वैज्ञानिक युग में पैट्रोलियम का योगदान

वैज्ञानिक युग में पैट्रोलियम
का
योगदान

बलबीर सक्सेना

प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली-110030

आभार

श्री योगेन्द्र सहाय

जन-सम्पर्क प्रबन्धक, भारतीय तेल निगम

स्कोप कॉम्प्लेक्स, नई दिल्ली-110003

क्रम

आरंभ और इतिहास

आज किसी देश की आर्थिक स्थिरता तथा सम्पन्नता उसकी धरती के गर्भ में निहित खनिज सम्पदा पर निर्भर करती है। जिस देश के पास जितना अधिक भू-गर्भीय साधन होते हैं, वह देश उतना ही सम्पन्न और शक्तिशाली माना जाता है। उतनी ही बड़ी साख होती है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के बीच हम यहां केवल खनिज तेल की चर्चा करेंगे।

खनिज तेल अर्थात् पैट्रोलियम की खोज की कहानी भी कम रोचक नहीं है, जो **1859** की **27** अगस्त से आरम्भ होती है। जब ऐडविन लॉ रिनटाइन ड्रेक को केवल **69.5** फीट की मामूली गहराई तक जमीन खोदकर बीस बैरल प्रतिदिन तेल मिलने लगा था। ड्रेक रेल रोड की ठेकेदारी से अवकाश ग्रहण कर चुके थे। कुछ दिनों सट्टेबाजी भी की और पास की पूंजी गंवाने के अतिरिक्त कुछ हाथ न लगा। सट्टेबाजी में असफलता के कारण ड्रेक महाशय अधिकतर क्षुब्ध और अस्वस्थ हो गए और इधर-उधर मारे-मारे घूमने लगे। वह स्वयं को 'कर्नल' कहलाने में एक प्रकार का आत्मसम्मान और सन्तोष महसूस करते थे। इस तथा-

कथित काल्पनिक उपाधि से उनके अपने आन्तरित खालीपन को तृप्ति मिलती थी। परन्तु पेनन‌सिल्वेनिया में तित्सुविली के समीप उनके भाग्य ने फिर जोर मारा, जब पुराने ढंग से केविल बिछाने के लिए धरती में छेद करते समय केवल 69 5 फीट गहराई तक पहुंचने पर अनायास तेल का फव्वारा फूट निकला ! तेल !! ड्रेक अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर पाए। बार-बार उस फव्वारे की बौछार पर अपना हाथ ले जाते और तेल की चिकनाई तथा गंध महसूस करते। उनकी थकी आंखों में खोई हुई चमक वापस आ गई। लगा, वह पुनः युवा हो गए थे'''हर्ष से उछल पड़े—कर्नल ड्रेक।

उन्होंने न केवल तब तक के सबसे बड़े तेल-भण्डार पर हाथ रख दिया था, वलिक वह कुआं उथला भी ज्यादा था। वहां से उन्हें मीठा और पराफिन का तेल मिला था जिसकी खपत उस समय खूब होती थी और उन्हें एक बैरल के लिए बीस डॉलर मिलते थे। वैसा मूल्य तो आज तक किसी ने नहीं कमाया।

यदि ड्रेक महाशय उसी स्थान पर 6,950 फीट तक खोद लेते तो उस कुएं का तेल गन्धक और डामर युक्त मिलता और पैट्रोलियम इतिहास कुछ और ही होता, परन्तु ड्रेक साहब ने ज्यादा मेहनत करना पसन्द नहीं किया और पराफिन तेल से संतोप कर लिया था, परन्तु कुछ दिनों के बाद उनका मन उससे उचट गया और फिर सट्टा खेलने लगे। सट्टे में जो भी तेल से कमाया था, गंवा दिया और ड्रेक, यद्यपि तेल अन्वेपण के जनक माने जाते है, जब मरे, तब पूरी

तरह से कंगाल हो चुके थे ।

कालांतर में पूर्वी टैक्सास में तेल के कुओं की खोज विधिवत् हुई –20वीं शताब्दी के आरम्भिक दिनों में। वास्तव में, 21वीं और उसकी अनुवर्ती शताब्दियों में ऊर्जा के नये स्रोत खोज लिये जाएंगे । परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूर्ववर्ती पाषाण युग, कांस्य युग और लोह युग की भांति आज का तेल युग ज्यादा समय तक नहीं चलेगा । फिर भी यह क्या कम है कि इस तेल युग ने अपने पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा संसार की काया पलटने में ज्यादा मदद की है । तेल का 'प्रभुत्व' चाहे 'संक्षिप्त' परन्तु उसका इतिहास उतना संक्षिप्त नही है ।

तेल का अस्तित्व मानव के प्रादुर्भाव से पूर्व भी था, चाहे वह पृथ्वी के गर्भ में क्यों न रहा हो और उसकी खोज मानव ने अपने विकास के अनगिनत आयामों को पार कर बीसवीं शताब्दी की दहलीज पर पहुंच कर क्यों न की हो। परन्तु पशुओं ने इस प्रतिस्पर्धा में निश्चित बाजी मार ली। आज के आधुनिक भालुओं के पूर्वजों ने पैट्रोलियम की धरोहर का उपयोग किया होगा। उदाहरणार्थ, पश्चिमी वाशिंगटन में अब भी मौज-मस्ती करने वाले भालू तेल के रिसने वाली खुली जगहों को अपने शरीर से घिस-घिस कर चिकना बना देते हैं।

मानव द्वारा पैट्रोलियम के उपयोग के प्रमाण लिखित की बजाए पुरातत्त्वीय भी है। प्राचीन सुमेर के पुरातत्त्वीय अन्वेषणों से पता चला है कि लगभग 6,000 वर्ष पूर्व

भवन-निर्माण में डामर का न केवल उपयोग किया जाता अपितु दीवारों पर डामर से पच्चीकारी भी की जाती थी। मिस्र के प्राचीन पिरामिडों और अन्य भवनों के निर्माण में पत्थरों के बड़े-बड़े टुकड़ों को एक-दूसरे को चिपकाने के लिए डामर का उपयोग किया जाता था, जिस प्रकार आजकल सीमेन्ट का उपयोग किया जाता है (वैसे सीमेन्ट का वास्तविक अर्थ है ही—किन्हीं दो वस्तुओं—यहां तक कि संबंधों को भी मजबूती से जोड़ देना, चिपका देना), हौजों (जल-कुण्डों), भंडारघरों और खत्तियों को सहजल (वाटर प्रूफ) बनाने के लिए डामर का ही उपयोग किया जाता था।

मिस्र में ही अंत्येष्टि निर्वाहक ममियों (परिरक्षित शवों) की केश-सज्जा डामर से की जाती थी और उन्हें डामर से भीगे कपड़े में लपेटकर रखा जाता था। डामर के ही कारण ममियां काफी समय तक अच्छी तरह से परिरक्षित की जाती रही होंगी, साथ ही वह ज्वलनशील भी हो जाती थीं, आक्रमणकारी शत्रु तो उन्हें ईंधन के रूप में उपयोग कर लेते थे।

यद्यपि समस्त विश्व में पैट्रोल का रिसना और प्राकृतिक गैस का निकास होता रहा है फिर भी पैट्रोलियम का मानव द्वारा लिखित रिकार्ड मध्यपूर्व में ही प्रचुरता से मिलता है। कैस्पियन सागर के पश्चिमी तट पर, जो आजकल रूस में बाकू का क्षेत्र कहलाता है, तेल प्रकट हुआ था। **1806** तक यह क्षेत्र फारस का एक प्रदेश था, और आज तेल उत्पादन में विश्व के महान् केन्द्रों में से गिना जाता है।

भगवान ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व तेल व गैस के रिसने को शाश्वत दैवी-स्राव समझा जाता था और लोग उस स्राव की पूजा करते थे जो अग्नि के रूप में प्रकट होता था। इसके लिए वे मन्दिर बनाते थे। कालान्तर में वे ही मन्दिर जरतुश्त धर्म के तीर्थ व पूजा-स्थल कहलाए। जरतुश्त धर्म जो अग्नि की उपासना अपना नैतिक व धार्मिक कर्त्तव्य मानता है, काफी समय तक फारस पर छाया रहा। इस धर्म में अग्नि, मिट्टी और जल को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है।

पुरातन काल में, जलती हुई गैस का फूट निकलना और पैट्रोल के प्राकृतिक भण्डार यात्रियों को बहुत समय तक चकित करते रहे। सिकन्दर महान से पूर्व हिरोडोटस (450 ई० पू० ने कई स्थानों पर पैट्रोलियम का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि बैबीलॉन की दीवारों (नगरभित्तियों) के निर्माताओं ने ईंटों को पकाया था और दीवार बनाने के लिए उन ईंटों को डामर से जोड़ा था। हिरोडोटस ने यह तक बताया है कि बैबीलॉन से अस्सी दिनों की यात्रा के बाद एक अन्य नगर 'ईस' था जो 'ईस' नामक एक छोटी नदी के तट पर आबाद था। डामर 'ईस' नगर से ही बड़े-बड़े ढेलों में लादकर लाया जाता था।

ईरान में ही अर्डेरिका से चालीस फर्लांग (दस मील) दूर कुछ यात्रियों ने देखा था कि लोग डामर तेल और खारी जल निकालते थे। वे उत्तेलनों (क्रेनों) से तरल पदार्थ निकालते थे किन्तु डोलचियों के स्थान पर अपनी बाहों के

सिरे पर खाल बांध लेते थे। एक आदमी उसे नीचे झुकाता था और तरल भरकर बाहर किसी बड़े बरतन में डाल देता था। वहां से दूसरे बरतन में ले जाया जाता था। फिर तीन 'नहरों' में अलग-अलग कर दिया जाता था। तेल काला होता था और उससे दूषित, मिचली लाने वाली दुर्गन्ध निकलती थी। कच्चा तेल (पैट्रोल) और डामर में लगभग ढाई हजार वर्षों से कोई अन्तर नहीं आया है—वैसा ही काला तेल, दुर्गंध तथा मिचली लाने वाला तेल और वैसी ही चिपचिपाती काली गाढ़ी डामर। कई लिहाज से उन दोनों को अलग करने की प्रक्रिया में भी कोई विशेप अन्तर नहीं आया है—सिद्धांत रूप से।

हिरोडोटस ने एक स्थान पर उत्तरी अफ्रीका के बाहर एक द्वीप का उल्लेख किया है, जहां उन्होंने बताया है कि लड़कियां जो डामर से पुते हुए पंखों का उपयोग करती थीं, पंक भरे ताल से 'सोना' चुनती थीं, यूनान के बाहर भी एक द्वीप का जिक्र किया है जहां डामर के तालाब थे। उनकी गंध डामर की जैसी थी, परन्तु पेरिया की डामर से हर प्रकार से उत्तम थी। वे लड़कियां तालाब से डामर निकालतीं और पास में ही खुदे एक गढ़े में ढाल देती थीं और जब काफी हो जातीं तब गढ़े से बड़े-बड़े मटकों में भर देती थी।

सिकन्दर द्वारा ईरान पर आक्रमण के वर्णन में, आश्चर्य है, पैट्रोलियम का कहीं उल्लेख नही मिलता। सिकन्दर तो अत्यन्त व्यावहारिक योद्धा था और उसने अपनी सेवा में तेल का उपयोग अवश्य किया होगा। निश्चय ही, उसने अपने

सैनिकों को अपने वाणों की नोकों पर ज्वलनशील डामर का उपयोग करने का आदेश दिया होगा, जबकि उस समय डामर की विशेषता सबको मालूम थी और डामर उपलब्ध भी था।

उसके लगभग आठ सौ वर्षो के उपरान्त 533-34 ई० में बाइजनटाइन के सेनापति बेलिसारिअस ने युद्ध में एक नई रणनीति का आविष्कार किया था। वह सुअरों को पैट्रोल से भिगोकर उनके झुण्ड के झुण्ड को शत्रु की सेना अथवा शिविर की ओर हांक देता था और जब सारा झुण्ड शत्रुओं के बीच पहुंच जाता तो अपनी ओर से एक वाण जिसमें आग का फलीता बंधा होता था, सुअरों के झुण्ड में फेंक देता था। वाण निश्चित रूप से किसी-न-किसी सुअर को लगता और सुअर भभक कर इधर-उधर भागने लगता। इस प्रकार आग अन्य सुअरों को भी पकड़ लेती और वे शत्रुओं में भगदड़ और घबराहट का कारण बन जाते…इसी अस्त-व्यस्त स्थिति से लाभ उठाकर शत्रुओं पर अधिकार जमा लेता था। इसी प्रकार एक आक्रमण में, विजय के बाद उन्होंने स्वर्ण-मुद्राओं से भरे अनेक घड़ों को फिर से प्राप्त कर लिया था जिसे वण्डाल लोग अस्सी वर्ष पूर्व रोम के पतन के समय रोम से लूटकर ले गए थे।

इसके पश्चात सातवीं शताब्दी में कुस्तुनतुनिया (वर्तमान इस्तम्बूल) में भी उसी खतरनाक तरकीब का उपयोग किया गया था जो बाद में यूनान के प्रसिद्ध अग्निकाण्ड का कारण बना था। डामर का चिपचिपाता, दहनशील घोल जिसमें

कच्चा अपरिष्कृत पैट्रोलियम, अपरिष्कृत नैपथा, काठ-कोयला (चारकोल), गंधक, फास्फोरस, पोटेशियम-नाइट्रेट और कई अन्य चीजें पड़ती थीं। वह एक अचूक और घातक हथियार माना जाता था—कृपया ध्यान दीजिये कि पैट्रोलियम और उसका एक अन्य रूक—नैपथा का भी उपयोग किया जाता था। यह वाइजनटाइनों का एक गुप्त रासायनिक फार्मूला था जिसके कारण 1456 में तुर्कों द्वारा कुस्तुनतुनिया का पतन संभव ही सका था।

वाइविल में पेट्रोलियम का उल्लेख मिलता है। जेनिसिस (उत्पत्ति) अध्याय में ईश्वर ने हजरत नूह से कहा, 'जा, गोफर* की मंजूषा वना। उस मंजूषा के भीतर डामर पोत दे और मंजूषा के वाहर भी डामर पोत…'

'ड्यूटरोनोमी' (आदि पांच पुस्तकें जिनमें पूर्व विधान अर्थात ओल्ड टैस्टामैंन्ट में उल्लिखित विधि एवं (शाश्वत्) वार्ताओं का वर्णन है) में जैकव को चट्टान से शहद तथा कठोर चट्टान से तेल चूसने का आदेश दिया गया था, 'जैकव की पुस्तक' में कहा गया कि 'नदी का तेल मुझ पर उंड़ेल दिया।' 'मैकेवीज' में वेहमियाह ने पुजारियों को फारस में शाश्वत अग्नि की तलाश में भेजा था किन्तु उन्हें वहां आग के स्थान पर 'गाढ़ा जल' दिखाई दिया। अतः दैवी आदेश के अनुसार लकड़ी और पत्थर पर वह 'जल' डाला गया और तुरन्त एक वड़ी ज्वाला भभक उठी। वेहमियाह ने उस आग को नेपथर की संज्ञा दी। कुछ लोग नेपथई भी कहते थे। वैसे

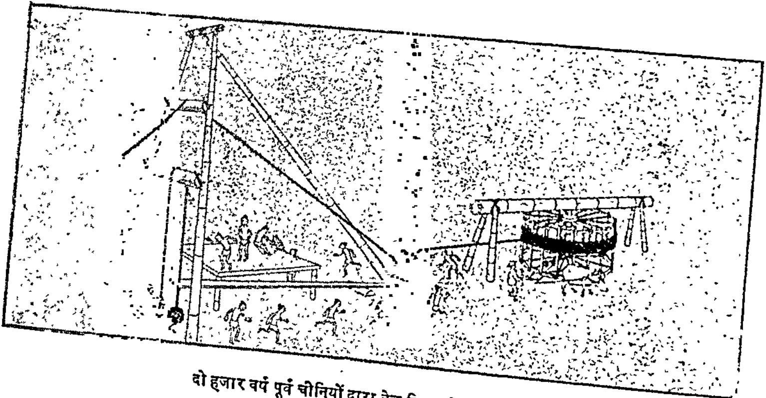
* गोफर एक प्रकार की लकड़ी होती है।

एक मत के अनुसार, यह नेपतर अथवा नेपथई नेपथा शब्द का ही मूल रूप है। फारसी में 'नेफ्त' 'भीगेपन' को कहते है फारस अथवा ईरान में, प्राचीन काल में; नेफ्था ही को पैट्रोलियम उत्पाद कहा जाता था, कालान्तर में केवल तरल पैट्रोल के लिए ही यह शब्द उपयोग किया जाने लगा।

आज के हमादान नगर के समीप इक्बाताना और बाकू जैसे क्षेत्रों में तेल व गैस का पाया जाना ही इस बात को प्रमाणित करता था कि वहां तेल काफी समय पहले से विद्यमान था।

अमरीकियों ने भी काफी समय पहले से पैट्रोल का उपयोग उसी तरह से करना शुरू कर दिया था, जिस ढंग से मध्यपूर्व में किया जाता था। मध्य अमरीका और मैक्सिको में, जहां की माया सभ्यता के वास्तु-शिल्प के अद्‌भुत अवशेष मिले है भवनों को बनाने के लिए डामर को सीमेन्ट की तरह इस्तेमाल किया जाता था। कैलिफोर्निया की खुदाइयों में पता चला है कि वहां के पुरातन लोग डामर को सजावट के लिए उपयोग करते थे।

कोलम्बस ने अपनी 'नई खोज' के समय देखा था कि 'नई दुनिया' के लोग तेल का उपयोग दवा के लिए करते थे। **1669** में, पेरू में भी इसके चिह्न दिखाई दिए हैं, स्पेन के एक भिक्षु ने अपने संस्मरणों में एक स्थान पर लिखा है कि उसे सेन्ट हेलिना में डामर का एक फव्वारा दिखाई दिया था और नाविक लोग उस डामर को अपने जहाज के रस्सों में



दो हजार वर्ष पूर्व चीनियों द्वारा तेल निकालने की प्रणाली

लपेटकर मजबूत बना लेते थे।

मार्कोपोलो ने भी तेरहवीं शताब्दी में बाकू में तेल के व्यापार का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि वहां, एक वक्त में तेल इतनी अधिक मात्रा में निकलता था कि उसे ले जाने के लिए सौ जहाजों का उपयोग करना पड़ता था। दूर-दराज देशों के व्यापारी, जहां तेल नहीं होता था, बाकू आकर तेल ले जाते थे। वह तेल रोशनी करने के लिए ही काम नहीं आता था बल्कि उसे ऊंटो के शरीर पर भी मला जाता था।

पूर्व में, चीनियों में भी बहुत समय से इसमें रुचि दिखाई देती है। वहां, दो हजार वर्ष पूर्व उन्होंने धरती में तीन हजार फीट तक बरमा करके खोदने की तरकीब निकाल ली थी। जब सारी दुनिया के लोग तेल के हौज खोद रहे थे और निस्पन्दन (रिसने) को उलीच कर ही संतोप किए ले रहे थे और काम चला रहे थे, तब चीन के चतुर तेल निकालने वाले धरती में छेद कर बिल्कुल आज की तरह (तार के स्थान पर) रस्सी से तेल निकाल रहे थे। कुछ दिनों के बाद जब उन्हें गैस मिली, तब उन्होंने बांस की नलियों की मदद से गैस को अन्य स्थानों पर प्रकाश एवं गरम करने के लिए पहुंचाना शुरू कर दिया था।

जापान में (674 ई०) सम्राट त्यूची को 'जलती हुई मिट्टी' यानी डामर और जलता हुआ जल यानी 'नेपथा' उपहार के रूप में भेंट किया गया था।

बर्मा ने तेल से सबसे ज्यादा कमाई की। 1735 में वहां

हाथ से ही धरती खोद कर तेल निकालने की व्यवस्था कर ली गई थी और एक वर्ष में 650,000 बैरल तेल निकाल लिया जाता था। बर्मा में इंग्लैंड की ही एक कम्पनी बर्मा ऑयल कम्पनी (बी० ओ० सी०) कार्यकर रही थी।

भारत में तेल

भारत में तेल उत्पादन का इतिहास भी अमरीका के पेनन-सिलवेनिया में तेल उत्पादन की शुभ घटना से कम पुराना नहीं है। पेननसिलवेनिया में एडविन लॉ रिनटाइन ड्रेक ने **1859** में तेल की खोज की थी और उसके केवल सात वर्ष पश्चात् **1866** में एक यूरोपियन सज्जन मिस्टर गुडइनफ महोदय ने ऊपरी असम के जयपोर के पास जमीन को बर्मा से खोदा और वहां तेल निकला। इससे पूर्व गुडइनफ साहब को असम में वह विशेष जमीन कैसे मिली या उन्होंने यह कैसे भांप लिया कि उसी भूमि के गर्भ में उनकी मनोवांछित वस्तु निकलेगी—यह बिल्कुल अलग विधा और कहानी है पर यह तथ्य है कि गुडइनफ महोदय को भारत में तेल उत्पादन का जनक होने का सम्मान अवश्य प्राप्त हो गया—कर्नल ड्रेक की तरह क्या विडम्बना है कि गुडइनफ महाशय भी ड्रेक साहब की तरह अधिक सफल तेल उत्पादक नहीं हो पाए।

किन्तु **1882** में आसाम रेलवे एण्ड ट्रेडिंग कम्पनी ने रेल चलाने के साथ-साथ तेल उत्पादन की ओर भी अपनी

रुचि एवं गतिविधियां बढ़ाईं उन्होंने साहस बटोरा और क्षेत्र में लगभग तीस वर्ग मील के क्षेत्र में अन्वेषण अधिकार प्राप्त कर लिये। सात वर्षों की कड़ी तपस्या के बाद 1889 में डिग्बोई में तेल निकलना शुरू हो गया। यह भारत का पहला अवसर था कि उसके भू-गर्भ से तेल निकला था, जो सौ वर्षों के भीतर देश का सर्वश्रेष्ठ सफल उद्योग के रूप में उभर कर आएगा।

फिर, 1893 में मारधरिता में तेल साफ करने का एक छोटा कारखाना खोला गया। यह कारखाना आसाम ऑयल सिण्डिकेट द्वारा स्थापित किया गया था जिसका मुख्यालय डिग्बोई में रखा गया। 1899 में आसाम रेलवे एण्ड ट्रेडिंग कम्पनी ने आसाम ऑयल कम्पनी के नाम से एक नई संस्था स्थापित की और उसका मुख्यालय डिग्बोई में खोला गया। फिर आसाम ऑयल कम्पनी ने आसाम ऑयल सिण्डिकेट के अधिकार भी प्राप्त कर लिये। 1901 में डिग्बोई में जो तेल-शोधक कारखाना चालू किया गया, लगभग 500 बैरल तेल प्रतिदिन साफ किया जाने लगा। फलस्वरूप मारधरिता के तेल शोधक कारखाने के पांव उखड़ गए।

1921 तक पहुंचते-पहुंचते तेल अन्वेषण सम्बन्धी गतिविधियों से सम्पूर्ण असम अनुगुंजित होने लगा। इंग्लैण्ड की बर्मा में कार्य कर रही 'बर्मा ऑयल कम्पनी' ने भी असम की ओर कदम बढाया। भारत, चूंकि अंग्रेजों के आधीन था (बल्कि बहुत दिनों तक भारत, बर्मा और सीलोन अर्थात श्रीलंका एक ही ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रशासित होते रहे) बर्मा ऑयल कम्पनी को असम (भारत) में पांव जमाने की कोई परेशानी

नहीं हुई । अतः वर्मा ऑयल कम्पनी ने तेल अन्वेषण के सभी अधिकार आसाम रेलवे एण्ड ट्रेडिंग कम्पनी से हथिया लिये ।

दस वर्ष वाद 1931 में तेल का उत्पादन 250,000 टन प्रतिवर्ष की दर से वढ़ गया और तेल की खोज असम ही नहीं, अराकान (वर्मा की पश्चिमी पर्वत श्रेणियां) तक की जाने लगी । फिर सूरमा घाटी में भी तेल ढूंढ़ा गया । सूरमा घाटी स्थित वदरपुर में तेल का उत्पादन 1920 तक लगभग एक हजार वैरल प्रति वर्ष पहुंच गया परन्तु जैसे किसी की नजर लग गई; उत्पादन घटना शुरू हो गया । उत्पादन इतना घटा, इतना घटा कि 1933 में काम ही ठप कर देना पड़ा । फिर भी तब तक लगभग दो करोड़ वैरल तेल निकाल लिया गया था ।

यद्यपि भारत में तेल का अन्वेषण ड्रेक महाशय द्वारा तेल प्राप्त करने के केवल सात वर्ष पश्चात् ही आरम्भ कर दिया था फिर भी तेल अन्वेषण कार्य असम से वाहर कदम नहीं रख पाया । कारण चाहे कुछ भी हो, वे लोग असम ही में काफी व्यस्त रहे । वर्मा ऑयल कम्पनी (वी०ओ०सी०) ने अन्वेषण के लिए भूभौतिकी की नई प्रणालियों को शुरू किया । उन प्रणालियों के तेल की खोज के लिए भी उपयोग करके देखा जो सफल हुआ । विशेष तौर से उन तरीकों को असम के पर्वतीय क्षेत्रों में उपयोग किया गया । 1937 में इसी विधा के अनुसार कुछ काम किया गया । दो वर्ष चला भी परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने के कारण रोक देना पड़ा ।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय तेल की कहानी ही कुछ और हो गई । उसका उल्लेख हम प्रसंग...

तेल का उत्पादन

विश्व में आवश्यकता की तुलना में खनिज तेल का उत्पादन बहुत कम है इसी कारण आजकल यह सोना हो गया है। वैसे, यह बात दूसरी है कि अभी पूरी तरह से तेल के भूगर्भीय भण्डारों की खोज हो नहीं पाई है। परन्तु जितना तेल मिलता है वह पर्याप्त नही है।

1859 से 1982 तक की लम्बी अवधि में सबसे अधिक तेल अर्थात् 150 अरब बैरल से कुछ कम (140 अरब), उत्पादन अमरीका में हुआ है। इसकी तुलना में सऊदी अरब तथा उसके आसपास के देशों से 130 अरब बैरल तेल निकला। रूस व चीन आदि देशों में 80 अरब बैरल तेल, लातीनी अमरीकी देशों में 60 अरब बैरल तेल और पूर्वी देशों में 10 अरब से कुछ ज्यादा बैरल तेल उत्पन्न किया गया।

एक अनुमान के अनुसार, 1 जनवरी 1983 को सर्वाधिक 350 अरब बैरल तेल सऊदी अरब व उसके समीपवर्ती देशों के भूगर्भ में था। उसके पश्चात नम्बर आता है रूस व चीन आदि देशों का जहां 80 अरब बैरल तेल शेष

था। लातीनी अमरीकी देशों के भूगर्भ में लगभग 75 अरब तेल शेप था और पूर्वी देशों के भूगर्भ में 15 अरब बैरल तेल का भण्डार शेप था।

उपयुक्त अनुमानों के अनुसार, कम-से-कम सऊदी अरब तथा उसके समीपवर्ती देशों को तो पूरी तरह से चैन की बंसी बजाते रहना चाहिए। जब रूस व चीन तथा अमरीका व लातीनी अमरीकी देशों के धरती तले तेल का भण्डार चुक जाएगा। तब भी सऊदी अरब की तूती सारे विश्व में बजती रहेगी और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की लोकोक्ति को बदलकर जिसका तेल उसकी ताकत बनाना होगा।

यदि उस समय तक ऊर्जा के कई दूसरे स्रोत, जैसे—सौर ऊर्जा अथवा परमाणु ऊर्जा के भण्डारों की खोज करनी होगी और तब विश्व में व्याप्त ऊर्जा का अभाव कम करना होगा।

आजकल लास एंजलिस और ओक्लाहामा नगर तथा कुछ और शहर हैं जिनके नीचे तेल की बड़ी थाती विद्यमान है। लेकिन यह मात्र अपवाद ही है। दो सौ प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों में केवल 66 राष्ट्र ही तेल का उत्पादन कर पाते हैं। उनमें से केवल दस के ही पास विश्व का 52 प्रतिशत तेल सुरक्षित है और विश्व में सभी साधनों से प्रजनित ऊर्जा का एक-चौथाई अंश पैदा करते हैं। वह सौभाग्यशाली दस देश हैं—अल्जीरिया, इण्डोनेशिया, इराक, ईरान, कुवैत, कोलम्बिया, नाइजीरिया, लीबिया, सऊदी अरब और वेनिनजुला। इन देशों में विश्व की कुल जनसंख्या का केवल 6 प्रतिशत आबाद है, विश्वभर में 10 प्रतिशत जमीन है जहां विश्व के

सभी साधनों से प्राप्त कुल ऊर्जा का मात्र तीन प्रतिशत खपत कर ली जाती है। जबकि सारे विश्व में तेल का कुल भण्डार 542 अरब बैरल सुरक्षित है, तब सऊदी अरब के पास उस का 50 प्रतिशत अंश सुरक्षित है।

इसकी तुलना में संयुक्त राज्य अमरीका को देख लीजिए वहां, विश्व-जनसंख्या का 5 प्रतिशत और कुल धरती का 7 प्रतिशत अंश होने पर भी तेल के विश्व-व्यापी सुरक्षित भण्डार का 6 प्रतिशत से कम है और सारे विश्व में उत्पन्न ऊर्जा का 30 प्रतिशत भाग उपयोग किया जाता है परन्तु तेल और प्राकृतिक गैस समेत सभी स्रोतों की सहायता से 23 प्रतिशत से कुछ कम पैदा की जाती है।

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले, जब तेल की कम्पनियां और उनके संरक्षक साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेशीय चंगुल में, तेल के स्रोत बंधे पड़े थे। तब यह सोचना नगण्य था कि तेल कौन कहां से उत्पादन करेगा और उसे बेचा किसे और कैसे जाएगा। उन दिनों यूरोप के उन साम्राज्यवादी देशों के बीच भौगोलिकता पारस्परिकता की अपेक्षा आपसी हितों व सम्बन्धों पर ज्यादा महत्व दिया जाता था। उनमें से अधिकतर तेल भण्डारों के वास्तविक मालिक भी नहीं होते थे।

1939 में प्रकाशित 'पैट्रोलियम उद्योग के मूल सिद्धान्त' नामक एक पुस्तक में उसके लेखक डोर्से हैगर ने उन दिनों तेल के मालिक अथवा व्यापारी देश की स्थिति का सही चित्रण किया है :

"अभी हाल में इराक ने तेल उत्पादक देशों की पंक्ति में

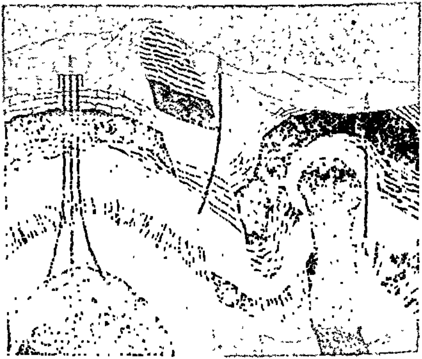
अपना कदम रखा है, जहां फ्रांस, इंग्लैण्ड और अमरीका संयुक्त रूप से तेल के साधनों के विकास में रुचि ले रहे हैं···अंग्रेजी, डच और अमरीकी पूंजी डच इस्ट इण्डीज* में लगी हुई है यद्यपि इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड की पूंजी का बड़ा भाग तेल उत्पादन में लगा हुआ है। वर्मा और फारस पर अंग्रेजी और डच पूंजी का नियंत्रण है। अंग्रेजों की पूंजी मिस्र में भी लगी हुई है। अलजीरियस पर फ्रांस की पूंजी का कब्जा है। इसी प्रकार पोलैण्ड और रूमानिया में अंग्रेजों, हॉलैण्डवासियों (डच) तथा अमरीकनों का पैसा पांव जमाए हुए है, जबकि दक्षिण अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड की पूंजी का बोलबाला है······"

इस प्रकार आपने देखा कि उस समय तेल के व्यापार में पूंजी-निवेश का कोई विशेष भौगोलिक सामंजस्य का सिद्धान्त नहीं चल रहा था जिसकी जिधर सुविधा मिली और लाभ की आशा हुई, उधर पूंजी लगा दी। परन्तु अब **44** वर्षो में आकाश-पाताल का परिवर्तन हुआ है। अधिकतर देशों ने अपने अन्य व्यवसाय के साथ तेल के व्यापार का भी राष्ट्रीय-करण कर लिया है और साम्राज्यवादी तथा बहु-राष्ट्रीय इजारेदारी का अंत हुआ है।

आज विश्व में तेल की खपत लगभग **20** अरब बैरल प्रति वर्ष है और विश्व के सभी तेल उत्पादन केन्द्रों की उत्पादन क्षमता **22** अरब बैरल है। लगता है, अब **545**

* डच ईस्ट इण्डीज—हॉलैण्ड के शासनाधीन इण्डोनेशिया आदि देश।

अरब बैरल तेल प्रमाणित सुरक्षित है। तेल के प्रतिलभ्य (प्राप्त करने योग्य) सुरक्षित भण्डारों के अतिरिक्त, संभावित संभव, अनुमानित और यहां तक कि अंतिम सुरक्षित भण्डार भी विद्यमान है जो शायद 545 अरब बैरल से ज्यादा हो जाए परन्तु उस अतिरिक्त तेल भण्डार खाली कर देने के



चट्टानों में फंसा तेल व गैस के भण्डार

बाद, जब तेल की एक बूंद न रह जाए तब क्या पृथ्वी के सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता है ? और किसी घातक अहित के जाल में हम सब जा फंसे ! इसकी कल्पना आज का तेल-पिपासु संसार नहीं कर रहा है, न ही करने का

'फालतू' समय है उसके पास क्योंकि उसे वर्तमान ।ऊर्जा संकट पार करना है ।

एक अनुमान के अनुसार विश्व का अन्तिम तेल सुरक्षित भण्डार से प्राप्त करने योग्य अंश 1.7 लाख करोड़ है जिसमें से 925 अरब बैरल अर्थात् प्रमाणित, सुरक्षित भण्डार का लगभग दुगना—की खोज की जानी है—इन आंकड़ों को प्रायः सभी अत्यन्त आशावादी मानते हैं परन्तु साथ ही भ्रामक भी है यह। जहां तक प्रतिलभ्य की आर्थिक वास्तविकता का संबंध है।

भू-वैज्ञानिक निरन्तर भविष्यवाणी कर रहे हैं और चेतावनी दे रहे हैं कि विश्व से तेल समाप्त हो जाएगा ! और समाप्ति का वह दिन 20 वर्षो से ज्यादा दूर नहीं है। किन्तु साल-दर-साल तेल का (भूगर्भीय) सुरक्षित भण्डार खपत की तुलना में बढ़ता जा रहा है और समस्त पृथ्वी पर भी ऐसे ही उत्साहवर्धक तथ्य देखने को मिले हैं यद्यपि अन्तर तो बढ़ रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका में अन्वेषण एवं उद्भेदन बढ़ने के बावजूद सुरक्षित भण्डार और उत्पादन का आपसी तालमेल ठीक नहीं रहा है। और यही स्थिति दुनिया के अन्य तेल उत्पादन केन्द्रों में भी दिखाई देती है—इसका कारण चाहे जो कुछ भी हो।

तेल के योजनाकारों का विश्वास है कि तेल का सुरक्षित भण्डार उसकी खपत से 10 या 20 गुना ज्यादा होना चाहिए जैसे-जैसे तेल का उपयोग बढ़ेगा, तेल का सुरक्षित भण्डार भी उसी अनुपात के अनुसार बढ़ता रहना चाहिए।

उत्पादन प्रणाली-पुरानी

जब तेल का पता चला और तेल निकालने के लिए कुछ जीवट लोग जोखिम उठाने के लिए आगे बढ़े, तब थोड़ी पूंजी और वही पुराने घिसे-पिटे साजो-सामान के सहारे ही अप्रयुक्त धरती में छेद करने से ही पर्याप्त मात्रा में तेल प्राप्त किया। आज के युग में अगम्य और अप्रमाणित जमीन पर लोग एवं संस्थान करोड़ों डालर लगाते है। छोटा काम करने वालों के लिए बड़ा खेल संभव भी नहीं है। फिर भी विश्व के तेल-उद्योग में स्वतंत्र रूप से काम करने वाले उत्पादनकर्ता हजारों में होते है और जिन देशों में तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ है। वहां, जैसे, अमरीका में, तेल उत्पादन में एक-तिहाई अंश वही स्वतंत्र तेल उत्पादक जोड़ते हैं।

अनेक उथले और न्यूनतम तेल वाले कुओं से प्रति कुआं कम है। पहले उत्पादन अच्छा था। अन्य उत्पादकों को अपेक्षाकृत नई तकनीक लाभप्रद महसूस हुई और उन्हें उसकी आवश्यकता पड़ी। बहुतों में, बड़ी कम्पनियों के विकास कार्यों से लाभान्वित होने का सामर्थ्य नहीं था। और उन्होंने प्रति-दिन कुछ बैरल तेल पर ही सन्तोष कर लिया। और यही

धारणा रही कि यदि पुराने उपकरणों और तकनीक से गुजारे लायक तेल मिल जाए तो बुरा क्या है…।

तकनीक के सम्बन्ध में एक दिलचस्प बात यह है कि पुरानी तकनीक के स्थान पर कभी-कभार ही नई तकनीक का उपयोग किया गया है। अनेक अनुप्रयोगों में, आधुनिक सामग्री व परिकल्पना के साथ उचित रूप से आधुनिकतम बनाई गई मौलिक पहुंच (प्रस्ताव) अब भी अत्यन्त प्रभावशाली हो सकती है। यही तकनीक तेल, पानी और गैस निकालने के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। जहां **4000** फीट से उथली जगह है और उपकरणों और सम्बन्धित ढांचे की गुणवत्ता, जिसके द्वारा पृथ्वी में छेद किया जाता है, सभी जानते हैं और विश्वास भी किया जाता है, गिरेगी नहीं। परिवेधन यंत्र के सूराख पर पुराने ढंग से तार की तरकीब, जो ड्रेक महाशय इस्तेमाल करते थे, आज तक काम में लाई जाती है। ड्रेक के पश्चात् भी सभी ने जमीन में बरमा करने के लिए तार की तरकीब से ही काम चलाया। यही तरकीब पानी निकालने और कभी-कभी तेल के उथले कुँए खोदने के लिए भी काम में लाई जाती है—यह बात दूसरी है कि सुविधा के लिए इस तरकीब में आधुनिक उपकरण जोड़ दिए जाते हैं परन्तु मूल बात वही रहती है—तार की तरकीब। क्योंकि यह सस्ती पड़ती है।

तार (केबिल) तकनीक या तरकीब अत्यन्त साधारण है और पुरानी भी है। जब से मानव को मालूम हुआ है कि जमीन के गर्भ में सार्थक और लाभप्रद उपयोगी वस्तुएं छिपी

हुई पड़ी हैं और मानव अपने हाथों व हथियारों से जमीन खोद सकता है, तभी से वह जमीन में छेद करता रहा है। चीनियों ने दो हजार वर्षों से भी अधिक समय से, हाइड्रोकार्बन निकालने के लिए बरमा करने हेतु औजारों को जमीन में ठोकने की तरकीब का प्रयोग किया था।

बरमा क्रिया में अधिकत्तर चक्रीय (रोटरी) गति का उपयोग किया जाता है। इस तरकीब के प्रणेताओं ने कुछ ऐसी चीज की परिकल्पना की थी जो लकड़ी अथवा धातु चक्री की तरह गोल-गोल नीचे जाए और जमीन में छेद करे खंभे गाड़ने या भवन की नींव डालने के लिए जमीन बेधने के लिए उन्होंने इसी के समान भीमकाय बरमा (ऑगर) देखा था—पहले से ही। परन्तु यह भीमकाय बरमा (बेधनी) चट्टानों को बेधने के लिए बेकार सिद्ध हुआ।

धरती की नरम और मुलायम सतह, जिसमें केवल एक कुदाल से ही काम चला लिया जाता है या भवन की नींव खोदना सरल होता है, वह जमीन उस जमीन से भिन्न होती है जिसके नीचे तेल और गैस प्राप्त होती है। धरती के नीचे, ज्यादा-से-ज्यादा 30 से 40 फीट पर चट्टानें मिलने लगती हैं। तेल, ऐसी चट्टानों में या उनके नीचे होता है। इन चट्टानों की कठोरता अलग-अलग होती है। मात्र दृढ़ गुफा की बालू से लेकर अभेद्य तथा अत्यन्त कठोर कणाश्म (ग्रेनाइट), असिताश्म (बासाल्ट) और स्लेटी पत्थर (शैल) तक के पत्थरों को उस बड़े बरमे (ऑगर) से फोड़ा नहीं जा सकता। तेल कर्मियों को, जिस प्रकार राजमिस्त्री ईंट और

पत्थर की दीवार में तारनुमा छेद करने वाले घन (हथौड़े) और छेनी का प्रयोग करता है, जमीन खोदने वह चट्टान तोड़ने के लिए हथौड़े व छेनी का ही प्रयोग करना होता है।

तार का वरमा ठोस चट्टान में से सैकड़ों—यहां तक कि हजारों फीट तोड़कर पहुंच जाता है। वरमे की छोर पर लोहे की लम्बी छड़नुमा तेज, मजबूत और कठोर वेधक नोक होती है जिसकी नकेल में तार या मेरु बंधा हुआ होता है। तार घिरनी के ऊपर होता है। कई आदमियों का समूह तार की नोक को छेद के तले से कुछ फीट तक खींचते हैं और फिर छोड़ देते हैं। नोक तले पर गिरती है और चट्टान पर हथौड़े की मार के समान चोट करती है। इस प्रक्रिया की प्रत्येक चोट से चट्टान चटखती है और टूटती है, लगातार ऐसे ही चोट के फलस्वरूप—और छेद गहरा होता जाता है।

उछलने वाले मेरु का आविष्कार और उसके जोड़ने से उस पुरानी क्रिया में सुधार अवश्य हुआ। उछलने वाले लम्बे मेरु के एक छोर पर तार या रस्सी बंधी होती है। मेरु के दूसरे छोर पर लंगर की तरह बंधा होता है और टेक पर टिका हुआ होता है, जिस पर फटी हुई डण्डी में गोता लगाने वाले तख्ते से मछली पकड़ने वाली वंसी की तरह बंधा होता है। तेलकर्मी टेक की एक ओर मेरु से जुड़े रकाव पर अपना पांव रखते ही मेरु पर फुरती के साथ पदाघात करते है जिससे नोक छेद के नीचे जाकर एक चोट के साथ लगती है फिर उसी फुरती और निर्विघ्नता से प्रक्रिया दोहराई जाती है—बार-बार दोहराई जाती है। तार छेद के बाहर निकलता है

और भारी-भरकम नोक को उठाता है और तुरन्त बोझ व गुरुत्वाकर्षण के कारण पुनः छेद में जा घुसता है। इससे चट्टान पर प्रचण्ड प्रहार होता है और चट्टान चटखने व टूटने की स्थिति की ओर—मिली-मीटर भर ही सही—आगे बढ़ती जाती है। 'रसरी आवत-जावत से सिल पे परत निसान' और यहां बार-बार की चोट से चट्टान मजबूर होकर चटख जाती है, टूट जाती है। यही जीत है मानव की प्रकृति पर। वह क्या नहीं कर सकता। यदि उसके इरादे मजबूत हों और हौंसले बुलन्द।

इस प्रक्रिया में समय का तालमेल अत्यन्त जरूरी है। समय को इस प्रकार नियमित करना चाहिए, ताकि नोक की ज्यादा से ज्यादा ऊर्जा बिल्कुल उचित और निश्चित क्षण पर चट्टान पर चोट करे और ज्यों ही ऊर्जा फैले, त्यों ही वह चट्टान से हट जाए। दूसरी जरूरी बात यह कि चोट में ढीलापन बिल्कुल न हो। यह खतरनाक भी है और खर्चीला भी।

यद्यपि नियमित, नियन्त्रित और लयिक ऊर्जा के उपयोग में सम्पूर्ण दक्षता और चेतनता बरती जाती है फिर भी जन-शक्ति से चलने वाला उछलता हुआ मेरु तेजी से अपनी शक्ति का स्रोत चुका (सुखा) बैठता है। इसलिए इस कार्य को निरन्तर और नियमित चलाए जाने के लिए मजदूरों की कई टोलियां नियुक्त करनी पड़ती हैं, जो एक के बाद दूसरी काम करती रहती हैं और रुकती नहीं। इसमें जानवरों को भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वे एक ही धारा-प्रवाह से

काम नहीं चला सकते। वाष्प ऊर्जा के आविष्कार से दो हजार वर्ष पुरानी तकनीक में छोटा-मोटा सुधार देखने को मिला। ड्रेक साहब का बरमा वाष्प ऊर्जा से ही चलता था और तब से कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है। कर्नल ड्रेक यदि आज होते तो वह शायद गेसोलिन अथवा डीजल इंजनों के अतिरिक्त आधुनिक केबिल (तार) तथा अन्य उपकरणों को पहचान जाते—कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है, यहां तक कि बच्चों की तरह कुओं का भी नामकरण संस्कार किया जाता है। यह नाक अधिकतर कामगार या मालिक अथवा स्थान पर रखे जाते हैं जो कुओं से सीधे संबंधित होते हैं। भारत में तो पूजा भी की जाती है, कुआं खोदने से पूर्व। हो सकता है कि काम आरम्भ करने के लिए शुभ शकुन भी निकाला जाता हो।

कर्मचारियों, औजारों तथा अन्य सामग्री को जहां कुआं स्थित होता है, पहुंचाया जाता है। ज्यादातर कुआं-स्थल के आस-पास के लोगों को मजदूरी पर लगाया जाता है। कुआं यदि समुद्र-तल पर हो, या दल-दल में हो, या पहाड़ी क्षेत्रों में हो या उत्तर ध्रुवीय क्षेत्र में हो या उष्ण-कटिबन्धी घने जंगलों में हो या जलते रेगिस्तान में हो, कर्मचारियों, औजारों और सामग्री को तो पहुंचाना ही पड़ता है चाहे कार्य युद्ध लड़ने के समान ही क्यों न हो। कार्य-स्थल पर पहुंचना ही, समझिये, आधी लड़ाई जीत जाने के बराबर है। फिर आवास, परिवहन संचार एवं जन-कल्याण संबंधी समस्याओं का समाधान भी तेल निकालने के विशेष कार्य से कम महत्वपूर्ण नहीं माना

जाता। तेल निकालने के दुष्कर कार्य के करने वालों को उचित वेतन और अत्यधिक सुविधाएं दी जाती हैं। महीने में केवल पन्द्रह दिन कठिन परिश्रम के पश्चात् पन्द्रह दिनों का घर जाने का अवकाश तथा यात्रा व्यय दिया जाता है (भारत में)।

आजकल गेंती और बेलचों के स्थान पर बड़े-बड़े कुदाल और बुलडोजर दिखाई देने लगे हैं, परन्तु काम करने का उद्देश्य वही है, मूल-प्रणाली वही है, यानी जमीन में बरमा इस्तेमाल करके तहखाना बनाया जाए जिसे 'सैलर' कहा जाता है। यह सैलर आठ से दस वर्ग फीट के और छः से बीस फीट गहरे होते हैं। अस्थिर मिट्टी में कंकरीट भरी जाती है ताकि लंगर मजबूती से फंसाया जा सके। सैलर में रिंग (कुआं खोदने का एक संयंत्र जो मस्तूल की तरह लम्बा खड़ा रहता है) के नीचे पाइपों व औजारों को जोड़ने और पृथक करने के लिए तथा मेरु (मस्तूल) के शेष भाग व डेरिक* (उत्तंभ) की नींवें निर्माणार्थ वाल्व व पाइप और पुर्जे जोड़ने का स्थान छोड़ दिया जाता है।

पुराने समय में वेधक (जमीन में छेद करने का) यंत्र को ठोस आधार अथवा काठ के भारी तख्ते पर रखा जाता था। इस पर डेरिक और उसके मंच को स्थापित किया जाता है। उन दिनों डेरिक **100** फीट तक लम्बा होता था और लकड़ी

* डेरिक—17वीं शताब्दी का एक जल्लाद (फांसी में) उसके ही द्वारा तैयार की गई, नली के छेद के ऊपर मध्य मेरु से अटके डण्डे द्वारा साज-सामान ऊपर उठाने की व्यवस्था।

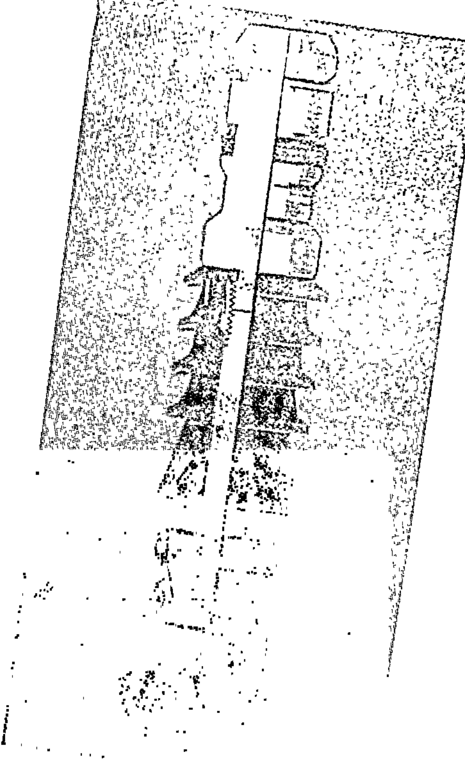
या लोहे का बना हुआ होता था। इससे औजार और पाइप-केसिंग की लम्बी डोर संभालने की सुविधाएं और निकासी सुलभ होती थी। किन्तु आजकल डेरिक साधारण तौर पर लोहे का ही बना होता है। उसे जब जरूरत हो जोड़कर खड़ा किया जा सकता हैं और जरूरत न पड़ने पर खोलकर टुकड़ों को समेटकर रखा जा सकता है। इसकी चोट पर किरीटनुमा एक छेदक यन्त्र होता है जो एक बड़ी गड़ारी का ही अंश होता है। गड़ारी में कम-से-कम तीन चरखियां लगी होती हैं। इन्हीं चरखियों पर केसिंग कुएं के नीचे उतारने व ऊपर उठाने के लिए केसिंग लाइन चलती है। इसके साथ-साथ छिद्र से रिसने वाला तरल पदार्थ, (चट्टानों की) कटाई के टुकड़े और बालू हटाने के लिए बेलर लेने-ले जाने के लिए बालू वाली लाइन और ड्रिलिंग (बरमा करने वाली) लाइन या तार की लाइन भी, जिसके सिरे पर बरमा के औजार होते हैं।

स्थायी डेरिक सामान्यता कैनवस या दूसरी चादरों से ढंका रहता है और एक कक्ष-सा बना हुआ होता है। डेरिक के समीप केसिंग पाइप रखने के रैंक, इंजन हाउस, डेरिक व इंजन हाउस के बीच ढंका हुआ एक रास्ता, औजार घर और भट्टी व मिस्त्रीखाना (घर) रहना आवश्यक है। डेरिक के अन्दर 'सैमसन पोस्ट' कही जाने वाली सीधी और खड़ी शहतीर होती है जिस पर एक अन्य शहतीर टिकी हुई होती है। (इस शहतीर पर पैदल चला जाता है अतः इसे 'पैदल शहतीर कहेंगे) इसका एक सिरा डेरिक के फर्श पर केन्द्र में

रखा होता है। यहां से ही कुएं में बरमा किया जाता है। पैंदल शहतीर का दूसरा सिरा पिटमैन कही जाने वाली सीधी छड़ है जो लोहे के क्रैंक (मुड़ी हुई कील) से जुड़ी हुई होती है। यह क्रैंक एक बड़े पहिये से जुड़ा होता है जिसे 'बैण्ड-व्हील' कहते हैं और जिसे पट्टे अथवा 'परिवहन' की मदद से इंजन चलाने के लिए उपयोग किया जाता है। फलस्वरूप इंजन बैण्ड-व्हील को घुमाता है जिसके बदले में क्रैंक भी घूमता है। इसके कारण पिट्मैन पैंदल शहतीर को सैमसन पोस्ट पर झूमा-झूमी करने के लिए ऊपर-नीचे धकियाता रहता है। तार वाले औजार जो पैंदल शहतीर के दूसरे किनारे से जुड़े होते हैं, छिद्र में ऊपर-नीचे भेजा जाता है, और चट्टान पर चोट करता है'''और यही तरकीब चीन के प्राचीन तेल निकालने वालों से लेकर कर्नल ड्रेक तक अपनाई जाती रही। अलबत्ता, समय-समय पर आवश्यकतानुसार संशोधन और सुधार अवश्य होते रहे।

उत्पादन प्रणाली-आधुनिक

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। पश्चिम के स्पिण्डल टॉप नामक स्थान पर कैप्टिन अन्थोनी ल्यूकस को तेल निकालने के कार्य में अपेक्षित सफलता नहीं मिली। पहले चार सूराख जब बनाए गए तो तेल निकलना तो दूर रहा, सूराखों का बना रहना ही कठिन हो गया। मिट्टी नरम और मुलायम थी और जमीन खोदने के समय ही तार वाले मस्तूल का अपना स्थान बनाए रहना अथवा यथास्थान टिके रहना मुश्किल हो गया अतः ल्यूकस महाशय और उनके साझेदार हैमिल बन्धुओं को रोटरी का उपयोग करना पड़ा। वैसे, जमीन में बरमा चलाने के लिए रोटरी (घूमता हुआ इंजन) का उपयोग 1821 में ल्यूसाना में पानी निकालने के लिए किया जा चुका था। फिर 1860 में रोटरी में पावर लगा दी गई यद्यपि पानी निकालने के लिए रोटरी का उपयोग व्यापक रूप से होता था। परन्तु तेल निकालने के लिए किसी ने इस ओर प्रयास नहीं किया था और तेल निकालने के लिए तार व मस्तूल का ही उपयोग किया जाता था—चाहे कितनी ही कठिनाई क्यों न आए। रोटरी का उपयोग न करने का शायद



तेल व गैस के कुओं को पक्का करने की कई प्रणालियों में से एक में उपयोग किया जाने वाला यंत्र

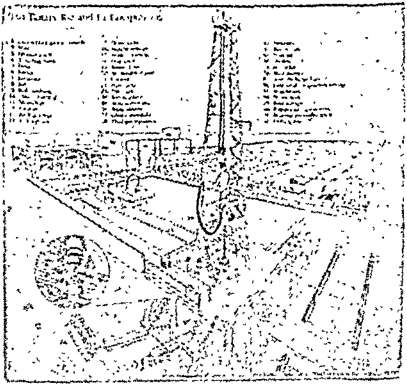
यह भी कारण हो कि वह प्रणाली सस्ती नहीं थी। तार-मस्तूल की प्रणाली में केवल दो आदमी और कभी-कभार एक छोकरा ही पर्याप्त थे जबकि रोटरी के लिए पांच आदमी—बरमा चलाने वाला, उपकरण आदि सजाने-संवारने वाला, डेरिक पर काम करने वाला, दो आदमी भारी-भरकम व जोखिम का काम करने वाले और शायद एक मोटर मैन—यानी कुल मिलाकर छह प्रति पारी। फिर, तार वाली पुरानी प्रणाली अधिक तेजी व दक्षता से काम करती थी। कठोर चट्टान में तेजी से छेद कर सकती थी। शताब्दी के अंत तक कम गहराइयों के लिए इसी प्रणाली का प्रयोग होता रहा।

परन्तु 1901 के बाद तेल के व्यवसाय ने तार मस्तूल-मशीन के साथ रोटरी का प्रयोग भी शुरू कर दिया। इस संयुक्त प्रणाली का कैलिफोर्निया काम्बिनेशन कहा जाता था जिसे ऐसे कुओं की खुदाई में उपयोग किया जाता था जिसके नीचे की मिट्टी व चट्टानों की बनावट बदलती रहती थी।

युद्ध व व्यापार में गिरावट के कारण तार वाली प्रणाली स्वत: ही लुप्त हो गई। 1930 और युद्ध के पश्चात वास्तव में यह प्रणाली अप्रासंगिक हो गई। और उसके स्थान पर अत्यन्त आधुनिक उपकरणों और यंत्रों से लैस नई प्रणाली प्रचलित हो गई जिसमें अधिक कठोर और कठिन काम तेजी से करने की क्षमता थी।

रोटरी वाली मस्तूल-मशीन तार मस्तूल-मशीन की अपेक्षा बड़ी और पेचीदा है। इसके छोर पर बरमा करने वाले यंत्र लगा दिए जाते हैं। लचीले तार के स्थान पर कड़ा

पाइप लगा दिया जाता है जो एक बेलन पर आघात करता है। बरमा करने वाली नली 30 फीट जोड़ों की होती है किन्तु उसके सिरे पर लगे बरमा वाले यंत्र को बदलने के कारण उसे बाहर निकाला जाता है। उसमें केसिंग लगाई जाती है और बाहर निकाल कर, जितनी देर संभव हो सके, स्थिर रखा जाता है इस स्थिति में यंत्र जितनी देर रखा जाए बरमा-प्रक्रिया उतनी ही सफल होती है। तीन जोड़



द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् तेल उद्योग में तेल निकालने की प्रणाली पुरानी पड़ गई। उसके स्थान पर अत्यन्त आधुनिक तकनीक और रोटरी वाली मस्तूल-मशीनों का उपयोग किया जाने लगा।

वाला 'स्टैण्ड' 'ट्रिबिल' और चार जोड़ वाला 'स्टैण्ड'-'फोर्बिल' कहा जाता है। चूंकि 'फोर्बिल' 120 फीट लम्बा होता है डेरिक अथवा मेरु उससे लम्बा होना चाहिए। आजकल डेरिक 200 फीट भी लम्बे होते हैं।

रोटरी वाले डिरिकों में, तार वाली मस्तूल-मशीनों की तुलना में अधिक बोझ ढोने की क्षमता होती है। बरमा करते समय डेरिक से बरमा करने वाली रस्सी सधी रहती है। जब छेद से रस्सी बाहर निकाली जाती है तो बरमा-नली के सारे रैकों को सहारा देती है। इन रैकों में दो सौ पाउण्ड या अधिक प्रति फुट के तीस हजार फीट पाइपों को साधने की क्षमता होती है। इस सारे बोझ के साथ इन डेरिकों में 100 मील प्रति घंटा बहने वाली वायु का वेग-भार वहन कर सकने की क्षमता है।

डेरिकों को टुकड़ों में बनाया जाता है। जहां जरूरत पड़ती है, वहां उन टुकड़ों को ले जाकर और जोड़कर पूरे डेरिक की शकल में खड़ा कर दिया जाता है। इन टुकड़ों को वायुयान (बोइंग 747) से भी अपने गंतव्य पर पहुंचाया जा सकता है। चाहे जलता हुआ रेगिस्तान हो या बर्फीला उत्तर ध्रुवीय क्षेत्र। पहाड़ों की दुर्गम ऊंचाई हो या दूर-दराज के समुद्र। तार वाले मस्तूल का डेरिक भी टुकड़ों में बनाया जाता था और यथास्थान ले जाकर टुकड़े जोड़कर डेरिक बना दिया जाता था दोनों की बनावट में अन्तर केवल जटिलता और आधुनिकता का था। रोटरी के बरमा-यंत्र में तहखाना (सैलर) नहीं होता है। उसके स्थान पर बुलडोजर द्वारा बड़े तालाब या हौज में

खुरच कर प्लास्टिक भर दिया जाता है। जमीन के नीचे रिसना रोकने के लिए हौज बन्द (सील) कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, दोनों प्रणालियों के लिए स्थल अलग-अलग तरह से तैयार किए जाते हैं। कीचड़ भरे गड्ढे में तरल पदार्थ को बरमा करने की व्यवस्था रहती है और धरती के नीचे से रिसना रोकने के लिए हौज को बंद कर दिया जाता है। कभी-कभी कीचड़ का गड्ढा धरती के ऊपर बड़ा हौज भी होता है। पानी रोकने के लिए एक दूसरा गड्ढा हौदी के रूप में होता है या उसमें मजदूरों द्वारा सफाई के लिए नल से पानी भर लिया जाता है।

मस्तूल को आठ-दस फीट ऊंचे मंच पर खड़ा किया जाता है उसी मंच पर बरमा की नली और केसिंग चलाने के लिए डेरिक या मेरु को स्थापित किया जाता है। डेरिक के सबसे ऊपर होता है 'किरीट खण्ड' जो तार-मस्तूल प्रणाली में प्रयोग आने वाले किरीट खण्ड से कहीं अधिक ठोस और बड़ा होता है और उसमें अनेक घिरनियां लगी होती हैं।

उतना ही बड़ा और ठोस सफरी खण्ड है जो किरीट खण्ड से लटका रहता है। तार की एक तीव्रगामी लाइन बेलन से चलती है जो किरीट और सफरी खण्डों में आठ-दस या उससे भी अधिक बार और अंत में छोर पर लिपटती है। लंगर के स्थान पर एक यंत्र बंधा होता है जिससे बरमा मिस्त्री को मस्तूल से बंधे टुकड़े में बोझ मालूम होता रहता है यही बोझ रोटरी प्रणाली का महत्वपूर्ण भाग है। **1925** तक इस बोझ को नापने और मालूम करने का कोई तरीका नहीं निकला था।

बरमा करने वाले मंच के मध्य में तीन फीट से अधिक व्यास वाली लोहे की एक चक्रिका (डिस्क) तेल में बेअरिंगों पर घूमती है। रोटरी के इस तख्ते के बीच में एक चौकोर छेद होता है, जिस पर लोहे का एक खण्ड लगा होता है और उसमें एक चौकोर या षड्भुजाकार सूराख होता है। केली जो स्वयं एक लौह खण्ड है, उसी सूराख में खोखली छड़ फिट होती है। यह कैली, नीचे बरमा की रस्सी और ऊपर घूमने वाली लड़ी से ठूंट समान चूड़ीदार युग्मक (कप्लिंग) द्वारा जुड़ी होती है। कैली बुशिंग में ऊपर-नीचे मुक्त रूप से आती-जाती है किन्तु जब बरमा-मिस्त्री द्वारा खींच ली जाती है तब उसके साथ बुशिंग भी खिंच आती है। क्योंकि उसे रोकने वाला खण्ड नीचे बंधा हुआ होता है।

वैसे, रोटरी चलाना ज्यादा कठिन या जटिल नहीं है। अभियन्ता गण पहले संचारण यंत्र से रोटरी घुमाते हैं जिसके कारण कैली हरकत में आती है। कैली के 'चलने' से बरमा वाली रस्सी चलने लगती है और अंत में सूराख के नीचे, पेन्दे में जमीन को काटनेवाला यंत्र घूमने लगता है। उसकेतिजधार वाले 'दांत' जमीन या चट्टान छेदते हुए आगे यानी और नीचे बढ़ाते हैं बेधन क्रिया। घूमने वाली लड़ी (चूल छल्ला) की मदद से कैली चक्कर काटती है जबकि उसके हुक स्थिर रहते हैं, जिसके सहारे बरमा की पूरी रस्सी का समूह लटका रहता है और घूमता है।

रबड़ का भारी-भरकम नल, जो मस्तूल की एक ओर फंसा होता है, घूमने वाली लड़ी से जुड़ा हुआ होता है जहां

वह स्टैण्ड पाइप से भी जुड़ा होता है। स्टैण्ड पाइप रबड़ के नल के आर-पार भी जुड़ा रहता है—कीचड़ या पतले कीचड़



बरमा में पाइप ध्यान से जोड़ना चाहिए

और पम्पों से सम्बद्ध रहता है। इन पम्पों से, अधिक दबाव, आयतन और वेग की प्रणाली के आधार पर बरमा चलाना पड़ता है।

धरती के सूराख में बरमा चलाने वाली तरलता से बरमा की रस्सी, नीचे, जमीन या चट्टान काटने वाले यन्त्र को ठंडा और चिकना (तरल) स्वतः होता रहता है। कीचड़ से मशीन का चलना, रस्सी का आना-जाना सरल हो जाता है। छेद में बरमा चलाने में मदद मिलती है और चट्टानों की छेद वाली दीवारों से औजारों का घिसना बचता है। छेदों की दीवारों पर कीचड़ उछल-उछलकर चिपकती और बचाव की एक तह जमकर एक अन्य दीवार तैयार हो जाती है। इससे एक लाभ होता है—दीवारों पर पपड़ी बनना रुकता है और छोटे-छोटे छिद्र बन जाते हैं जिनसे अनचाहा पानी नहीं आता और तरलता बह जाने का भय जाता रहता है।

बरमा चलाए जाने वाले स्थान के स्तर पर छेद की दीवार में दबाव का सन्तुलन बनाए रखने के लिए कीचड़ की भूमिका मुख्य है। सामान्य तौर पर किसी भी बिन्दु पर दबाव को द्रव स्थैतिकी दबाव की ही तरह नापा जाता है। चूंकि कीचड़ पूरी तरह से छेद में भर जाती है, और लवण जल से सामान्यतया भारी होती है, उसका दबाव भी, स्पष्ट है, स्थैतिकी से अधिक पड़ता है। छेद में दबाव अधिक हो या कम, उसमें एकत्रित गैस से धक्का लगता है और धरती या कुआं फट पड़ने की स्थिति से बचाया जा सकता है। बरमा-मिस्त्री कीचड़ में कुछ ठोस द्रव मिलाकर और तेल व पानी का घोल मिलाकर डालने से कीचड़ की बनावट बदल सकता है। कभी-कभी स्लेटी पत्थर और चिकनी मिट्टी रोकने के लिए डामर मिला देता है। मिट्टी पानी में फूल जाती है। बरमा करते समय रस्सी चिपक जाती है यानी फंस जाती है। पहले तो कीचड़ को गोबर मिलाने से बना ली जाती थी परन्तु अब तो यह एक रासायनिक कार्य हो गया है और इसका विज्ञान ही अलग है। कुएं में कीचड़ की चिपचिपाहट और तेजी से बरमा द्वारा काटे गए (चट्टान या धरती के सभी टुकड़ों को ऊपर ले जाने और छोड़ देने के लिए पूरी तरह से काफी होना चाहिए। जब बरमा चलना बन्द हो जाए तो कीचड़ में उन टुकड़ों को थामे रखने की क्षमता होना चाहिए। कुएं के ऊपर कीचड़ होती है जो स्लेटी पत्थर हिलाने वाली चलनी के आर-पार डाल दी जाती है। कीचड़ मिश्रित स्लेटी पत्थर चलनी से हिलाने पर कटे हुए टुकड़े अलग हो जाते हैं। इन टुकड़ों को नियमित रूप से नमूने के तौर पर रखा जाता है

और एक रजिस्टर में उनका विवरण दर्ज किया जाता है ताकि बरमा-मिस्त्री को छेद करने वाले यन्त्रों की बनावट और उनके पैनापन का अंदाज बना रहे। तब चादरनुमा कीचड़, कीचड़ के हौज में चली जाती है, जहां उसके स्तर को ध्यान-पूर्वक परखा जाता है ताकि कुछ गड़बड़ न हो सके। वास्तव में, न तो स्तर का बढ़ना ठीक है न घटना। स्तर बढ़ने से कुएं में दबाव भी बढ़ता है और गड़बड़ हो सकती है। स्तर के घटने से भी उसमें संचारण प्रक्रिया घटती है जिससे भी बात गड़बड़ा सकती है इसका मतलब यह हुआ कि हौज में कीचड़ का स्तर अत्यन्त सन्तुलित रहना चाहिए और नियन्त्रित रहना चाहिए।

रोटरी के पावर संयंत्र डीजल, गैस या डीजल-विद्युत के इंजनों से चलते हैं। रोटरी की मस्तूल की शक्ति अश्व-शक्ति में आंकी जाती है। तीन इंजनों से 1500 अश्वशक्ति से अधिक शक्ति कोई असाधारण बात नहीं है। बड़े मस्तूलों के लिए 3,000 अश्व-शक्ति सामान्य शक्ति मानी जाती है। यह शक्ति बरमा चलाते समय नमी (तरलता) घुमाते रहने में अधिकतर खर्च होती है। दो मील लम्बे व भारी नल को रस्सी को गूंथने और 50 टन या अधिक के बल से चट्टान पर आघात करने के लिए निरन्तर शक्ति की जरूरत पड़ती है। सूराख के तले में भारी तरल पदार्थ बड़े वेग से गाढ़ा पम्प करने और शेष सूराख में नीचे दबाते रहने में ही 2000 अश्वशक्ति खप जाती है। इसके विपरीत, खींचने वाले कार्य में रस्सी और केसिंग संभालने के लिए कम शक्ति की जरूरत पड़ती है।

वास्तव में रोटरी मशीनें खुरपी (खोदते) का काम नहीं करतीं वैसे, सारे तेलकर्मी कहते यही है कि 'रोटरी खुरपियाती' है। जब कुआं खुदना शुरू होता है, रोटरी से ही एक बड़ी खुरपी का काम लिया जाता है। कुआं खोदने के लिए जब-जब धरती में बरमा चलाया जाता है तब, बार-बार छेद छोटा हो जाता है। केसिंग की जाती है, बरमा-मिस्त्री सर्वाधिक उपयुक्त यानी 24 इंच का बेधक यन्त्र का उपयोग करता है और छेद और गहरा किया जाता है। कैली के निचले छोर पर बेधक यन्त्र बांध दिया जाता है। जब कैली 30 फीट गहरी अन्दर चली जाती है तब बरमा-मिस्त्री बेधक यन्त्र बाहर खींच लेता है।

दिनभर में 500 फीट नीचे तक बरमा चलाने के बाद कैली निकाल ली जाती है और कुएं के समीप ही बनाए गए 'रैट होल' में रख दी जाती है, तब रस्सी को भी खींच लिया जाता है और ऐसे स्थान पर रख दिया जाता है जहां उसे तीन-चार जोड़ों को ऊपर के छोर से हटाकर रखा जा सके।

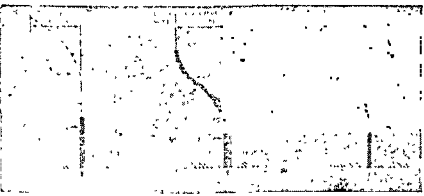
बेधक यन्त्र के अधिक दबाव वाले स्थान में चले जाने का हमेशा खतरा बना रहता है। इन क्षेत्रों (स्थानों) में भूगर्भीय दबाव से तरलता में बरमाकारी दब जाती है। यहां तक बरमा यन्त्र की रस्सी के बोझ पर दबाव पड़ता है। रस्सी खिंचने के दौरान बहुधा पाइप चलने से कुएं में दबाव कम हो जाता है और स्थायी तौर से अन्तर्भूमिक शक्तियां छा जाती हैं और फट जाने तक की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फटने की स्थिति रोकना ही प्रचालक की सुरक्षा है। वैसे रोकने की

प्रक्रिया में वाल्वों, नलियों और कुएं की मन को बन्द करने वाले तख्तों का विन्यास ही जटिल है। बरमा यन्त्र की रस्सियां फटने की स्थिति रोकने वाले विन्यास में से गुजरती है और उससे कीचड़ बहती है। गैस या तरलता जो भी कुएं में बनता है, इसी विन्यास द्वारा बाहर निकल जाता है। सारी जांच हो जाती है पूरी मशीन की और पूरी प्रक्रिया की।

फटने की स्थिति को रोकने वाली आधुनिक प्रक्रिया अत्यन्त भरोसेमंद बना ली गई है। जब कभी कुएं फटते हैं। तब मानव चाहे असफल हो जाए परन्तु उक्त प्रक्रिया असफल नहीं हो सकती—यह अभियन्ताओं का दावा है। परन्तु प्रस्थापन अत्यन्त सावधानी से किया जाना चाहिए। सावधानी ही सुरक्षा की मात्र गारन्टी है।

अधिकतर तेलकर्मी कुआं सीधा खोदते हैं। फिर भी भू-विरंचना का प्राकृतिक झुकाव और बरमा की रस्सी का लचीलेपन के कारण कभी-कभी वेधक यन्त्र को धरती में इधर-उधर भटक जाना पड़ता है। सर्प के समान घुमावदार कुओं की तलहटी पूर्व निर्धारित बिन्दु से कहीं दूर पड़ जाती है। (कुत्ते की टांग के समान) आड़े तिरछे कुएं भी कभी-कभी बरमा-मिस्त्री के लिए परेशानी का कारण बन जाते है। ऐसे आड़े-तिरछे कुओं में पाइप ज्यादा लगता है, केसिंग भी अधिक की जाती है, इस पर भी अभीष्ट रचना नहीं बन पाती और नुकसान होता है, सो अलग। ज्यादा लागत के कारण स्वाभाविक परिवर्तन किया जाना बुरा नहीं है किन्तु वेधक यन्त्र का उचित दबाव और बरमा क्रिया की गति तथा यांत्रिक

संयोजन जो वरमा की रस्सी मजबूत रखती है, धरती के नीचे रास्ता वदलने से रोकता है और वेधक नियन्त्रित करता है।



छिद्र स्थानच्युति प्रक्रिया—तीन प्रणालियां

कभी-कभी वरमा-मिस्त्री जान-बूझकर वेधन-पथ वदलना चाहता है और किसी विशेप स्थान पर लक्ष्य करता है। समुद्र अथवा किसी दुर्गम भूभाग में रास्ता वदलना बहुत महंगा पड़ता है। अतः अधिकतर तेल अभियंता एक स्थान सोच-विचार करने के वाद तैयार करते हैं और दिशापरकता से अनेक कुएं खोदते हैं। उस समय यह ध्यान अवश्य रहता है कि एक कुएं के नीचे का तल दूसरे की तलहटी से काफी दूर रहे, क्योंकि टेढ़ी वरमा-क्रिया से ही वांछित तेल प्राप्त होता है।

दिशापरक-वरमा सामान्य रूप से क्षति रोकने के लिए किया जाता है किन्तु जव अस्थायी (रन अवे) कुआं ज्वालामुखी हो जाता है, जो ज्वाला एवं विस्फोटन के कारण भयानक धमाके से फट पड़ता है, तव भी दिशापरक-वरमा ही अन्तिम सहारा रह जाता है, ज्वालामुखी कुएं वहुत खतर-

नाक और महंगे होते हैं क्योंकि जमीन के नीचे नया कुआं पुराने कुएं से नहीं मिलता, उनका नियंत्रण संभव नहीं होता। ऐसे अवसरों पर बरमा करने में कई सप्ताह लग जाते हैं क्योंकि यह प्रक्रिया कठिन होती है।

दिशापरक कुएं खोदना सीधे कुओं के खोदने की तुलना में महंगे पड़ते हैं। क्योंकि बरमा की गति धीमी होती है और 30 प्रतिशत समय भी ज्यादा लगता है क्योंकि बरमा-मिस्त्री बार-बार कुएं के नीचे बरमा किए गए 'रास्ते' की परख करता है। वह देखता है कि बरमा ठीक चल रहा है या नहीं। इससे समय तो लगता ही है सीधा बरमा की तुलना में।

नई तकनीक के कारण दिशापरक-बरमाकारी में विकास हुआ है। उदाहरण के तौर टर्बो* की बरमाकारी को ही लीजिए जो सुराख के नीचे एक मोटर लगाई जाती है जिसका व्यास उतना ही होता है जितना बरमा की रस्सी का होता है यानी पांच इंच। उसके अन्तिम छोर पर वेधक यंत्र लगा होता है। इसमें तेज गति से चलने वाली एक टर्बाइन लगी होती है। टर्बाइन तरलता में बरमाकारी से चलती है। यह युक्ति-यंत्र कुएं में परम्परागत बरमा की रस्सी के सिरे तक पहुंचती है किन्तु रस्सी या तो घूमती नही या अपेक्षाकृत धीमी घूमती है। जो कुछ घूमता है वह मात्र वेधक यंत्र, सुराख के तले में बिजली की मोटर और यहां तक कि ज्वाला-बरमा-

* टर्बो/टर्बाइन--एक रोटरी मोटर जिसमें मुड़े हुए फलकों के साथ एक पहिया या पीपा तरल पदार्थ की प्रतिक्रिया का संघात या दोनों द्वारा चलाये जाते हैं।

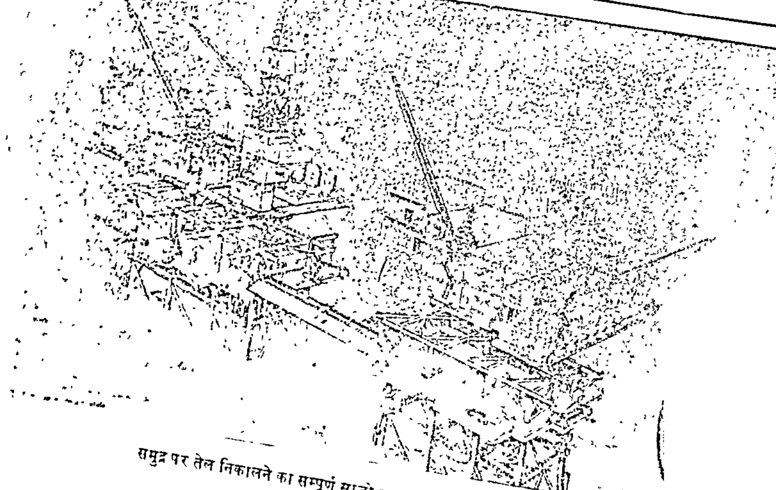
कारी भी किसी सीमा तक उपयोगी पाई गई है। ज्वाला-वरमाकारी में बहुत गरम आग का उपयोग किया जाता है (आग कम गरम अर्थात् बुझी बुझी-सी भी हो सकती है अतः बहुत गरम आग) जिसकी गरमी से कठोरतम चट्टान तक पिघल जाती है। इस यंत्र को आजमाया जा चुका है। टर्बाइन से वरमा करना और शक्तिशाली वेधक यंत्र दिशापरक वरमा-कारी के लिए उपयोगी प्रमाणित हुए हैं, क्योंकि इस प्रक्रिया से घूमने वाली रस्सी की अपेक्षाकृत स्थिर रस्सी खींचना सरल है और इसका उपयोग समुद्र में—विशेषकर उत्तर सागर और मैक्सिको की खाड़ी में वरमा करने के लिए खूब किया जाता है। इसके साथ-साथ यह कठोर चट्टान में वरमा करने के भी उत्तम है और किफायती है।

समुद्र में

आजकल विशेषकर दक्षिण अटलान्टिक, हिन्द महासागर और उत्तर ध्रुव के क्षेत्रों में तेलकर्मी अधिक व्यस्त दिखाई पड़ते है। समुद्र तट के निकट समुद्र के सीने पर लोहे के बड़े-बड़े मस्तूल और मंच उभरे हुए हैं जिन पर तेल निकालने की अत्यन्त आधुनिक और परिष्कृत मशीनों और उपकरणों तथा तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है। हाल के वर्षों में टैक्सास, नार्वे, स्कॉटलैण्ड या जापान के समुद्रों पर लोहे के विशाल मंचों की भीड़ लगी हुई है। भारत ने भी, बम्बई, मन्नार, कैम्बे और बंगाल की खाड़ियां, अण्डमान द्वीप समूह महानदी, गोदावरी और ताप्ती के थाले तेल निकालने की गतिविधियों से अनुगुंजित है (इसके अतिरिक्त असम, गुजरात, राजस्थान, केरल, आन्ध्र, तमिलनाडु व मध्य प्रदेश में भी यही प्रयास किया जा रहा है)।

तेल के भूवैज्ञानिकों के अनुसार समुद्र के गर्भ में हाइड्रोकार्बन का नवीनतम भण्डार मालूम हुआ है। उनका अनुमान है कि उत्तरी अमरीका के समुद्र के नीचे ही 12.5 अरब से लेकर 38 अरब बैरल तेल और 61.5 अरब से 139 करोड़ खरब घन फोट प्राकृतिक गैस का भण्डार है।

समुद्र का पर्यावरण वैसे ही तेलकर्मियों के अनुकूल नहीं



समुद्र पर तेल निकालने का सम्पूर्ण साजो-सामान और उत्पादन मंच

रहता। फिर भी नई तकनीक, अर्थव्यवस्था और साहस की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। तेल के लिए कुआं खोदने के लिए धरती में खुदाई की तुलना में समुन्द्र में 20 गुना अधिक लागत लगती है। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहां तेल की संभावनाएं नितांत आवश्यक हैं परन्तु मानवीय तकनीकी ज्ञान से अब भी दूर है क्योंकि समुद्र से तेल निकालने में सदा ही जान-जोखिम का डर रहता है। बहुधा दुर्घटनाएं होती रहती है। इस पर भी हाइड्रोकार्बन पर वर्तमान भारी निर्भरता और ऊर्जा आधार के भावी विकल्प के बीच एक सेतु के लिए समुद्र-तल के तले से तेल का अन्वेषण नितांत आवश्यक है। समुद्रतल पर तेल की की जाने वाली गति-विधियों के तेलकर्मियों के सामने बिल्कुल अभिनव भूमिका प्रस्तुत कर दी है, जो नाविकों से बिल्कुल भिन्न है। नाविक अपनी समुद्र यात्राओं के दौरान बेढंगे मस्तूलों और मृत्यु से जूझने में जीवन व्यतीत करते थे और तेलकर्मी को उन आरम्भिक नाविकों से ज्यादा सीखना और सहना पड़ता है, समुद्र के नीचे जल में भी जाना पड़ता है और खतरनाक एकाकीकरण झेलते हुए काम करना पड़ता है।

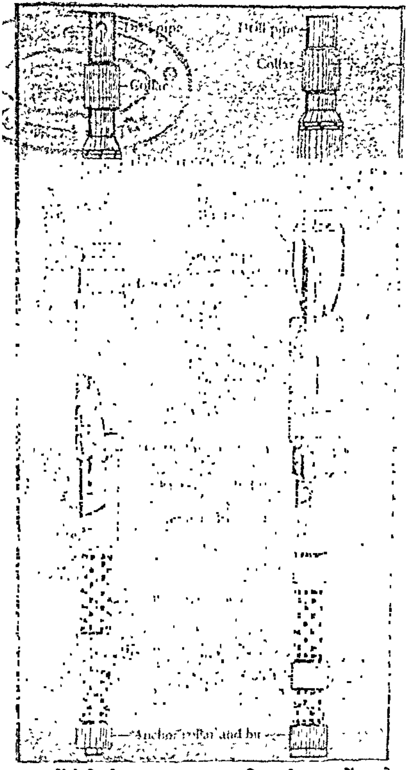
यह खतरे तेलकर्मी 1869 में झेलता आ रहा है जब समुद्र-तल पर गाड़े गए एक मंच से जल में बरमा चलाकर तिरछा कुआं खोदा गया था और तेल निकला था। 1910 में ऐरी झील में एक मील अन्दर गैस का कुआं खोदा गया था। तब प्रति पारी लकड़ी के तख्ते का मंच बनाया गया था। कैलिफोर्निया के सान्ता बारबरा में भी समुद्र-तल पर ऐसा ही

प्रयास किया गया था।

तव इसी से मिलता-जुलता एक विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न एक वजरा (वड़ी नौका) का प्रवन्ध किया जाए और जहां जरूरत हो, वहां उसे वहाकर ले जाया जाए। तेल का काम पूरा हो जाने के वाद उसे दूसरे स्थान पर ले जाया जाए। (आजकल वड़े-वड़े जलपोत, जो मात्र इसी कार्य के लिए परिकल्पित और निर्मित किए जाते हैं, वे भी तो यही काम करते हैं)

जलमग्न हो सकने वाले मस्तूलों का विचार भी तभी पैदा हुआ था। **1934** में इस युक्ति में सुधार किया गया। फिर भी **1937** में, लौसियाना में सवसे पहला कुआं खुले पानी में खोदा गया था। वास्तव में तेल उद्योग का समुद्री युग **1947** से आरंभ हुआ जव लौसियाना में ही जमीन से **12** मील दूर समुद्र की छाती पर **18** फीट गहरे पानी में पहला कुआं खोदा गया। लोहे की **2** फीट मोटी और **140** फीट लम्वी चितानुमा एक मंच वनाया गया और समुद्र में **104** फीट अन्दर ले जाया गया।

मंच के ऊपर **129** फीट का डेरिक स्थापित किया गया। जिसमें **100** मील प्रति घंटे की गति से चलने वाली वायु का वेग सह सकने की क्षमता थी। वह मंच निराला ही था। उस पर डेरिक और 'ड्रा वर्क्स' था। साथ में **260** फीट के वजरे पर कीचड़ की हौदी वरमा चलाने वाला पानी, ईंधन आदि के साथ **30** कर्मियों के आवास की व्यवस्था भी थी। मंच की कुल लागत **230,000** डालर आई थी।



1926 में हैलीबर्टन द्वारा बनाया गया छिद्र परीक्षक इसमें तब से काफी सुधार किया गया है।

तब से समुद्री तेल के अन्वेषण में धरती-आकाश का परिवर्तन आया है। आज एक तिरता हुआ मस्तूल की सामान्य लागत 20 करोड़ डालर है, जब अत्यन्त महंगा स्थायी मंच एक अरब डालर का बैठता है।

आजकल आधे से ज्यादा समुद्री प्रचालनों में 'जैक अप' (ऊपर उठा देने वाले) मंचों का प्रयोग किया जाता है। समुद्र की तह तक पहुंचे लम्बे पायों पर बना बहता हुआ एक ढांचा होता है। जिसे, समुद्र जल से जितना ऊंचा चाहें उतना ऊपर उठा लिया जाता है जब बरमा का काम पूरा हो जाता है तब पाए सिकोड़ लिये जाते हैं और मंच को दूसरे स्थान पर ले जाकर लगा दिया जाता है। ऊपर उठाने वाले यंत्र—'जैक अप'—पानी में 300 फीट तक गहराई में काम कर सकते हैं।

बरमा चलाने वाले जलपोत अत्यन्त सर्वतोमुखी और चंचल होते हैं। वे जलपोत कमोवेश आवरण डिजाइन के मानक जलपोत होते है। वे स्वयं आगे बढ़ सकते हैं। उनके बीच एक सूराख होता है जिसे बरमाकार कुआं खोदने के लिए इस्तेमाल करता है। उन सूराखों को 'मून पूल्स' (चन्द्र कुण्ड) कहा जाता है, उन पर डेरिक को रखा जाता है। यह जलपोत अधिकतर गहरे अन्वेषण कार्यो के लिए काम में लाए जाते हैं। इनका निर्माण महंगा है (प्रत्येक 40 करोड़ डालर) और इनके प्रचालन में भी काफी लागत आती है, यानी 65 हजार डालर प्रतिदिन। इस पर भी इनकी अच्छी गतिशीलता के कारण तेलकर्मी इन्हीं को पसंद करते है फिर तेल

अन्वेपण के वाद भी इनका उपयोग हो सकता है। जैसे समुद्र में 23 हजार फीट गहरी तलहटी से (अमरीका के) राष्ट्रीय विज्ञान न्यास (नेशनल साइंस फाउण्डेशन) के लिए, 'कोर' के नमूने प्राप्त करने के लिए इनका उपयोग किया जाता है।

तेल का परिवहन

विश्व भर के अधिकतर ऐसे क्षेत्रों में 60 करोड़ बैरल तरल पैट्रोल (तेल) पैदा किया जाता है, जहां जनसंख्या कम है और छितरी हुई है, और जहां औद्योगिक विकास कम हुआ है। इन स्थानों से आवश्यकता के स्थानों—औद्योगिक यूरोप, संयुक्त राज्य अमरीका या जापान आदि देशों में तेल पहुंचाने का काम स्वयं एक व्यापक उद्योग के रूप में उभरा है—पैट्रोलियम परिवहन उद्योग।

जितना भी पैट्रोल (तरल) पैदा किया जाता है उसका दो-तिहाई भाग जलमार्ग से ले जाया जाता है। इसके लिए अत्यन्त आधुनिक टैंकर बनाए जाते हैं और उन्हें जलपोतों में प्रस्थापित किया जाता है। उनमें बड़े-बड़े पम्पों और नलों के द्वारा तट से तेल पहुंचाया जाता है तथा गंतव्य स्थान पर उसी तरह पम्पों व नलों की मदद से तट पर बड़े-बड़े भण्डारों (टैंकों) में भर दिया जाता है। वहां से आवश्यकतानुसार नगरों में रेल व ट्रकों द्वारा वितरित किया जाता है। कई स्थानों पर पाइपलाइन की भी व्यवस्था है। विदेशों में पाइप-

लाइन अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित और व्यापक है।

पाइपलाइनों से तेल परिवहन की प्रणाली आज के आधुनिक युग की देन नहीं है। चीन में 1000 ईसा पूर्व बांस की नालियों के द्वारा प्राकृतिक गैस उपभोक्ता के स्थानों तथा मन्दिरों तक पहुंचाने का प्रबंध था। यूनान में भी साइफन* प्रणाली (सिद्धान्त) और बंद नलों का उपयोग करके पानी पहाड़ों पर ले जाया जाता था। कालान्तर में यूनानी घाटियों और पहाड़ों के बीच प्रचण्ड प्रवाह का सामना करने के लिए मृत्तिका-सामग्री के पाइप बनाने लगे। सिन्धु घाटी सभ्यता के अन्वेषण के दौरान इसी प्रकार के बरतन और नलिकाएं देखी गई हैं।

डेरिक वाले कुओं के आविर्भाव से अन्य व्यापारिक वस्तुओं की तरह तेल भी लकड़ी के बैरलों में भरकर घोड़ा-गाड़ियों के द्वारा शोधशालाओं तक पहुंचाया जाता था। 30 साल तक ऐसे ही चलता रहा। परन्तु यह प्रणाली महंगी और दुर्गम थी। पेननसिलवेनिया से न्यूयार्क नगर तक 1865 में 42 गैलन तेल के बैरल ले जाने के लिए 8.35 डालर खर्च करने पड़ते थे, जो बिक्री मूल्य का 50 प्रतिशत था। यह महंगा सौदा अधिक देर टिक नहीं पाया। और 1865 में ही सैम्युल वान साइकल ने पहला काम यह किया कि उन्होंने गड़े हुए लोहे की दो इंच व्यास की पाइपलाइन बनाई जिससे एक दिन में

---

*'साइफन' एक मुड़ी हुई नलिका अथवा जलवाहिका द्वारा वायुमण्डलीय दबाव की मदद से तरल पदार्थ खींचा जा सकता था।

800 बैरलों का परिवहन संभव हो सका।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान जगह-जगह पर पाइपलाइनें बिछाई जाने लगीं और पुरानी लाइनों की मरम्मत की गई। युद्ध से न केवल विस्तार में तेजी आई (क्योंकि तेल परिवहन नितांत आवश्यक हो गया था)। बल्कि नई तकनीक की मदद से 24 इंची पाइपलाइनें भी बिछाई जाने लगीं। यह प्रणाली किफायती भी थी, बाद में बड़े व्यास की पाइपलाइनें भी बिछाई जाने लगीं। 1978 में संयुक्तराज्य अमरीका में ही 230,000 मील से अधिक पाइपलाइनों द्वारा 8 करोड़ बैरल कच्चा तेल और 10 करोड़ बैरल तेल प्रतिदिन ले जाया गया।

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व असम में डिग्बोई तेल भंडारों (भूगर्भीय) से डिग्बोई तेल शोधशाला, और वहां से तिनसुखिया के वितरण केन्द्र तक कुछ पाइपलाइनें बिछना शुरू हुई थीं। पाइपलाइनों से तेल परिवहन रेलों या ट्रकों से ले जाने की तुलना में ज्यादा सुरक्षित, सरल और सर्वोत्तम माना जाता रहा है। फिर इससे वायुमण्डल प्रदूषित होने की संभावना भी कम रहती है। साथ ही यह किफायती भी है। प्राकृतिक गैस को हर परिस्थिति में पाइपलाइन से ले जाया जाता है। 50 के दशक में कच्चा तेल ले जाने के लिए बड़ी पाइपलाइनें डाली गईं। नहरकटिया-गोहाटी-बरौनी पाइप-लाइन दो आयामों में बनाई गई। मार्च 1962 में गोहाटी तक और फिर अगले वर्ष 1963 में बरौनी तक बढ़ाई गई। उसी पाइपलाइन से बोंगाइगांव की शोधशाला की

आवश्यकता को भी पूरा किया गया। इस सफलता के पश्चात और आगे भी कदम बढ़ाया गया। गत 25 वर्षों में (1987 तक) तेल व प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा समुद्र-तल तकनीक देश में आजमाई जाने लगी और बम्बई के समुद्र तल से (महाराष्ट्र) तक 3000 किलोमीटर लम्बी अंतः सागरी पाइप लाइन डाली है। उसी रास्ते पर दूसरी पाइप लाइन भी डाली गई जिसकी चौड़ाई (व्यास) 26 इंच है। उसके बाद 1730 किलोमीटर की पाइपलाइन हजीरा-बिजयपुर-जगदीशपुर तक बनाई गई भारतीय गैस प्राधिकरण द्वारा बिछाई गई इस पाइपलाइन से मुख्य रूप से गैस ले जाई जाती है। इससे विशेषकर गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश के उद्योग—खास तौर से, उर्वरक उद्योग को लाभ पहुंचेगा। क्योंकि इन प्रदेशों में सादे उर्वरक कारखाने गैस पर आधारित रखे गए हैं।

कुल मिलाकर पूरे देश में लगभग 32 छोटी-बड़ी पाइप-लाइनें है जिनकी कुल लम्बाई लगभग छः हजार किलोमीटर से अधिक है। यह सभी लाइनें देश केदो सार्वजनिक उद्यमों—भारतीय तेल निगम और तेल व प्राकृतिक गैस आयोग—द्वारा बनाई गई हैं। भविष्य में भी आशातीत संभावनाएं हैं।

1840 में जलपोतों में तेल एकत्रित करने के लिए लकड़ी के बैरल डेरिक पर रखे जाते थे। उन्हें जलपोतों के बड़े-बड़े खानों या फलकों में भी रखा जाता था। कालान्तर में लकड़ी के बैरलों के स्थान पर लोहे अथवा अन्य धातु के बैरलों का

उपयोग किया जाने लगा क्योंकि वे 'दीर्घजीवी' होते थे जब तेल का आयात-निर्यात बढ़ा तब टैंकर बनाए गए परन्तु फार्मूला वही पुराना रहा। 24 गैलन अमरीकी बैरलों का अब भी मानक नाप (वजन) माना जाता है।

1886 में एक जलपोत 'ग्लूकौफ' आरम्भ किया गया जिसमें प्रथम अत्यन्त आधुनिक अमरीकी टैंकर लोहे के खोल से लिपटे अलग-अलग खानों में भेजा जाता है। 'ग्लूकौफ' बड़ा जलपोत था फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध तक इससे बड़ा तेलवाहक जलपोत समुद्र में नहीं उतरा था। युद्ध में टैंकरों का आकार 16,000 डी डब्ल्यू टी* तक हो गया था। 1956 में 45,000 टन के कच्चा तेल वाहक चले। 50 के दशक में 10,000 टन के तेल वाहकों का उपयोग किया गया और उसके बाद मात्रा 200,000 से 250,000 डी डब्ल्यू टी तक पहुंच गई। 1973 में 'ग्लोबटिक टेकियों' नामक 476,292 टन का जापानी तेल वाहक समुद्र में देखा गया। अब उससे भी ज्यादा बड़े जलपोत चल रहे हैं।

टनों की मात्रा बढ़ने का मात्र कारण फारस की खाड़ी में तेल भण्डारों का पता लगना था, जिनसे तेल निकाल कर यूरोपीय-अमरीकी देशों को ले जाना पड़ता है परन्तु बड़े जहाज जहां अधिक-से-अधिक तेल ले जाने में समर्थ हो गए वहां स्वेज नहर की सकरी 'सागरी-पगडंडी' को पार करने में

---

* डी डब्ल्यू टी (dwt)—पेनीह्वेट—['दिनायारिस'—8 पेंनी के बराबर। रोमन गणराज्य में चांदी का सिक्का जो [illegible] में विभाजित हो जाता था।]

असमर्थ हो गए और उन्हें अफ्रीका की आधी से ज्यादा परिक्रमा लगाकर यूरोप व अमरीका पहुंचना पड़ता था। जापान जाने के लिए भी बड़े-बड़े तेलवाहक जलपोतों को खुले समुद्र में घूमकर जाना पड़ा। उन जलपोतों को बन्दरगाहों पर तट के समीप पहुंचने में कठिनाई उठानी पड़ती है, इसलिए बड़े जलपोतों का स्वप्न भंग हो सकता है और समुद्र पर **100** करोड़ गैलन कच्चा तेल बिखर जाना खतरे की घंटी का कारण बन सकता है।

किन्तु स्वेज नहर की समस्या के कारण लम्बी यात्राओं के लिए वी० एल० सी०* और यू० एल० सी० सी०** जहाजों की क्षमता व रफ्तार अपनी मूल क्षमता व रफ्तार से बढ़ाई गई। कई तरीकों से बन्दरगाहों पर जहाज खड़ा करने और तेल उतारने की समस्या भी सुलझाई गई यानी गोदियां गहरी व व्यापक बनाई गई। कभी-कभी तो बड़े तेल-वाहकों को समुद्र-तट तक पहुंचने पर तेल उतारकर बारी-बारी से हल्का किया जाता था। आज, विश्व में इन वी० एल० सी० सी० व यू० एल० सी० सी० वर्ग के तेल-वाहकों के लिए **65** बन्दरगाह तैयार किए गए हैं जो हर प्रकार से अनुकूल है। आजकल, तेल व्यापार को देखते हुए छोटे जहाज न सुविधाजनक हैं न किफायती।

---

* *वी० एल० सी० सी० (वेरी लार्ज क्यूड कैरियर्स) कच्चे तेल का बड़ा वाहक।*

** *यू० एल० सी० सी (अल्ट्रा लार्ज क्यूड कैरियर्स) कच्चे तेल का अत्यधिक वाहक।*

अब तो, आंकड़े बताते हैं कि छोटे तेलवाहक पर्यावरण के लिए भी खतरनाक बन जाते हैं—क्योंकि छोटे तेलवाहक उतना ही तेल ले जाने के लिए ज्यादा बार चक्कर लगाते है और अत्यन्त संवेदनशील क्षेत्रों में इनसे वायु प्रदूषण का खतरा बना रहता है इसलिए प्रदूषण आदि से बचने के उपायों पर सक्रियता से विचार किया जा रहा है साथ ही हर संभव सावधानी बरती जा रही है। साथ ही इन तेलवाहक जलपोतों को समुद्र और मौसम की उग्रता से भी बचाना पड़ता है। अधिकतर जलपोत बन्दरगाह में आकर खराब मौसम की चपेट में पड़कर डूबते हैं। परन्तु जब वह जलपोत कच्चे तेल से भरे हों, तब केवल जहाज टूटने की ही बात नहीं होती बल्कि लाखों टन तेल भी गिर जाता है और बह जाता है। इस प्रकार की भीषण दुर्घटना को बचाने के लिए सम्बन्धित सरकारें व जनता, दोनों चिन्तित और प्रयत्नशील रहती है।

टैंकरों के प्रचालन की आर्थिक स्थिति केवल सरकारी कायदे-कानून के ही कारण जटिल नहीं होती अपितु अन्तरराष्ट्रीय पैट्रोल व्यापार की 'सनक' के कारण भी समस्या पूर्ण रहती है। **1970** के आरंभ में तेल की मांग और टैंकों की क्षमता अस्थिर थी। फलस्वरूप विश्व-व्यापी जलपोत निर्माण सम्बन्धी फिजूल खर्ची हो गई। लेकिन **1973-74** में तेल की चौगुनी कीमत हो जाने के कारण मांग घट गई। उद्योग में तेलवाहकों की स्थिति गड़बड़ा गई और बड़े-बड़े जहाज बन्दरगाहों पर खड़े मक्खी मारने लगे, इससे पूंजी तो

गई हीं, साथ में उनके रख-रखाव का खर्चा अलग वहन करना पड़ा। जहाजों के अविक्रेताओं का अनुमान है कि अन्तर्राष्ट्रीय मण्डी में **138,000** टन टैंकरों पर प्रतिमाह **100,000** डालर नुकसान हुआ।

तेल का भविष्य

तेल के भविष्य के सम्बन्ध में पहले भी संकेत किया जा चुका है। वैसे, इसके बारे में कोई भी भविष्यवाणी सही व निश्चित नहीं की जा सकती, चाहे कितने ही विस्तृत आंकड़े व विवरण पूर्ण तथ्य और तर्क इकट्ठे क्यों न कर लिये जाएं। फिर भी पैट्रोलियम व ऊर्जा से सम्बन्धित भविष्यवाणी अपेक्षाकृत कम ही विश्वसनीय है।

धरती, बर्फ या समुद्र के नीचे क्या छिपा है, कौन जान सकता है, यद्यपि आज विश्व का सारा आर्थिक और राज-नैतिक दारोमदार धरती, वर्फ या समुद्र के नीचे छिपे खनिज भण्डारों पर ही निर्भर है। विद्वानों का मत है; धरती, बर्फ या समुद्र पर विद्यमान जीव-जन्तुओं के जीवाश्म (Fossil) आदि जैव सामग्री (Organic matter) मिट्टी में मिल जाती है, वर्फ के नीचे दब जाती है या 'समुद्र की धरती' के नीचे पड़ी रह जाती है जो काफी समय अर्थात लगभग 200 लाख वर्षों के पश्चात् तेल की शक्ल में बदल जाती है, जिस प्रकार धरती

हैं जमाने की लकड़ी अपने क्रमानुसार धरती में दबकर उतने ही समय के पश्चात् कोयला का रूप धारण कर लेती है।

वैज्ञानिकों को यह अवश्य मालूम है (अनुमान ही सही) कि कितना तेल, कोयला और गैस निकाली जा चुकी है। जब वे वह भी अनुमान लगा सके है कि कुल सब कितना था तो फिर मामूली गणित ही रह जाती है यह मालूम करने के लिए कि अब शेष कितना है इस 'शेष' के आधार पर यह भी अटकल लगा ली गई है कि प्राप्त कितना हो सकेगा। इन्हीं जानकारियों, चाहे अटकलों और अनुमानों के 'ताश महल' के बावजूद तेल विशेषज्ञ उसी अनिश्चित आधार पर हाथ रखते हैं।

1978-79 में आयोजित विश्व ऊर्जा सम्मेलन में विशेषज्ञों से अनुरोध किया गया था कि विश्व में तेल व गैस के शेष भण्डारों की मात्रा का अनुमान लगाएं, तो उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि तेल व गैस की ढेर सारी मात्रा अब भी सुलभ है किन्तु निश्चित मात्रा के सम्बन्ध में 29 भिन्न-भिन्न अनुमान प्रस्तुत किए गये थे। फिर औसत अनुमान 2.1 लाख करोड़ बैरल तेल का था, जिसमें से 1.0 लाख करोड़ बैरल तेल का पता लगाया जा चुका है। आशावादियों का विश्वास है कि जितना तेल निकाला जा चुका है और जितना निकालना शेष है—दो मिलाकर लगभग 3 लाख करोड़ बैरल है। परन्तु इस सुनहरी तसवीर की दूसरी तरफ निराशावादियों का अनुमान है कि 1.2 लाख करोड़ बैरल है जिसका मतलब यह हुआ कि अब केवल 200 अरब बैरल तेल निकालना शेष है।

परन्तु इन उलझा देने वाले आंकड़ों से हमें क्या लेना-देना। वास्तविक स्थिति तो केवल इतिहास ही बता सकेगा।

परन्तु यह तथ्य है कि आगामी 20 वर्षों में तेल की मांग 6.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ने का अनुमान है। संयुक्त राष्ट्र-संघ की भविष्यवाणी है सन् 2000 में तेल व गैस का उत्पादन अपने चरम शिखर पर पहुंच जाएगा किन्तु इससे 2020 तक के विश्व ऊर्जा का केवल 23 प्रतिशत ही मिल पाएगा। तेल उद्योग स्वयं सन् 2000 में विश्व ऊर्जा का 23 प्रतिशत (तेल) अंश मिलने का हिसाब लगा रहा है। इसकी तुलना में 1980 में 47 प्रतिशत था।

अनुमानों के ताने-बाने पैट्रोलियम के अन्वेषण और विकास और ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के अन्वेषण और विकास के लिए अरबों डालर के खर्च की योजना के आधार पर बुने गए हैं।

वर्तमान अनुभवों ने प्रायः सभी तेल-खलीफाओं (प्रवक्ताओं) को ज्यादा सावधान कर दिया है। 1970 के अन्तिम और 1980 के प्रारम्भिक महीनों में ऊर्जा मण्डियों में किसी को भी इतने विस्मयकारी परिवर्तन की उम्मीद नहीं थी। तेल की बढ़ती हुई कीमतों के कारण निरन्तर विस्तृत मण्डियों की उज्ज्वल अटकलों के आधार पर जिन लोगों ने बड़ा धन लगा दिया, (भारत में तो काफी समय से तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है) उन्हें बड़ा धक्का लगा है।

1863 से, अर्थात् जब से ड्रेक महाशय ने सबसे पहली बार तेल निकालना शुरू किया था, विद्वान गला फाड़-फाड़

कर चेतावनी देते चले आए हैं कि तेल एक न एक दिन चुक जाएगा किन्तु वह 'एक न एक दिन' आने के लिए सदा बीस वर्षों की दूरी रखी गई। यह दूरी आज भी जारी है और भगवान ने चाहा तो दूरी की सीमा-रेखा क्षितिज-रेखा के समान सदा आगे बढ़ती जाएगी। यह एक आशावादी दृष्टि-कोण है—वास्तविकता की चमक से आंखें मींच कर ही सही—*सन्तोष तो मिलता है। चिन्ता रहित स्थिति में रहकर* वर्तमान को सक्रियता से जीने का उत्साह तो सुलभ है।

परन्तु तेल का विकल्प हमें खोज लेना चाहिए। जितनी जल्दी हो, उतना अच्छा। आखिर इसमें हर्ज क्या है?

□□